

सहजानंद शास्त्रमाला

## मोक्षशास्त्र प्रवचन

### विंश भाग

(अध्याय 7 एवं अध्याय 8 के सूत्र 1-2)

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ‘‘सहजानन्द’’ महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिग्म्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

## प्रकाशकीय

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरुतर कार्य किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक 'मोक्षशास्त्र प्रबचन विंश भाग' अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। इसमें मोक्षशास्त्र अध्याय 7 एवं अध्याय 8 के सूत्र 1-2 तक प्रबचन संकलित हैं।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को <http://www.sahjanandvarnishastra.org/> वेबसाइट पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुनः प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे। इसी ग्रन्थ की PDF फाइल <http://is.gd/varniji> पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में श्री माणकचंद हीरालाल दिग्म्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु डॉ. उदयजी मेहता सीएटल अमेरिका के द्वारा रु. 1500/- प्राप्त हुए, तदर्थ हम इनके आभारी हैं। ग्रन्थ के टंकण कार्य में श्रीमती मनोरमाजी राहिंज, गांधीनगर एवं प्रूफिंग करने हेतु श्रीमती मनोरमाजी जैन, गांधीनगर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छावड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9753414796

[Email-vikasnd@gmail.com](mailto>Email-vikasnd@gmail.com)

[www.jainkosh.org](http://www.jainkosh.org)

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णों‘सहजानन्द’ महाराज द्वारा रचित

## आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आत्मराम॥१॥  
मैं वह हूँ जो हैं भगवान्, जो मैं हूँ वह हैं भगवान्।  
अन्तर यही ऊपरी ज्ञान, वे विराग यह राग वितान॥  
मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान॥  
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान॥  
सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूष दुःख की खान॥  
निज को निज पर को पर ज्ञान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान॥  
जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।  
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम॥  
होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।  
दूर हटो परकृत परिणाम, ‘सहजानन्द’ रहूँ अभिराम॥  
अहिंसा परमोर्धम

## आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ॥१॥  
हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।  
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन०, मैं सहजानंद०॥२॥  
हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर मैं मेरा कुछ काम नहीं।  
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन०, मैं सहजा०॥३॥  
आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।  
निज अनुभव रस से सहज तुप्त, मैं दर्शन०, मैं सहजा०॥४॥

## Contents

प्रकाशकीय.....	2
आत्मकीर्तन.....	3
आत्म रमण .....	3
सूत्र 7-1 .....	6
सूत्र 7-2 .....	14
सूत्र 7-3 .....	15
सूत्र 7-4 .....	15
सूत्र 7-5 .....	16
सूत्र 7-6 .....	17
सूत्र 7-7 .....	18
सूत्र 7-8 .....	19
सूत्र 7-9 .....	20
सूत्र 7-10 .....	21
सूत्र 7-11 .....	22
सूत्र 7-12 .....	24
सूत्र 7-13 .....	26
सूत्र 7-14 .....	30
सूत्र 7-15 .....	31
सूत्र 7-16 .....	32
सूत्र 7-17 .....	34
सूत्र 7-18 .....	36
सूत्र 7-19 .....	41
सूत्र 7-20 .....	42
सूत्र 7-21 .....	43
सूत्र 7-22 .....	48
सूत्र 7-23 .....	54
सूत्र 7-24 .....	56
सूत्र 7-25 .....	57
सूत्र 7-26 .....	57

सूत्र 7-27 .....	58
सूत्र 7-28 .....	58
सूत्र 7-29 .....	59
सूत्र 7-30 .....	60
सूत्र 7-31 .....	61
सूत्र 7-32 .....	61
सूत्र 7-33 .....	62
सूत्र 7-34 .....	63
सूत्र 7-35 .....	64
सूत्र 7-36 .....	64
सूत्र 7-37 .....	65
सूत्र 7-38 .....	66
सूत्र 7-39 .....	66
सूत्र 8-1 .....	69
सूत्र 8-2 .....	76

## मोक्षशास्त्र प्रवचन

विंश भाग

✽ सप्तम अध्याय ✽

## सूत्र 7-1

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्वतम् ॥ ७-१ ॥

(१०७) पञ्च व्रत और उनकी शुभास्त्रवहेतुता—छठे अध्याय तक जीव, अजीव व आस्त्रव पदार्थ का वर्णन हुआ था, किन्तु वह आस्त्रव का सामान्य वर्णन था और उसमें १०८ तरह के साम्परायिक आस्त्रव बताये गए। जीवाधिकार आस्त्रव १०८ प्रकार के होते हैं और इसी कारण माला में १०८ दाने माने गए हैं, उसका आशय यह है कि एक बार भगवान का नाम लिया तो मेरा यह पाप खत्म हो जाये तो वे सब आस्त्रव दो प्रकार के होते हैं—(१) पुण्य और (२) पाप। तो पहले जो आस्त्रव का वर्णन हुआ वह सामान्य वर्णन था तथा कुछ वर्णन पापास्त्रव की प्रधानता से भी था जैसे चारों घातिया कर्मों का अलग-अलग वर्णन सूत्रों में था। इन घातिया कर्मों में विशेष अधिक पापानुभागी कर्म मोहनीय कर्म है उसके आस्त्रवों के भी कारण बताये गये थे। उन विवरणों से यह शिक्षा दी गई थी कि ऐसे-ऐसे पापकार्यों से बचने का पूरा ध्यान रखना चाहिये। तीर्थकरप्रकृति, सातावेदनीय, शुभ नामकर्म, उच्चगोत्र जैसे पुण्यकर्मों के आस्त्रव के भी कारण बताये गये थे जिनसे सद्ग्रावनाओं की शिक्षा मिली थी। अब व्रत संयम भाव के होने पर होने वाले पुण्य आस्त्रव का वर्णन किया जा रहा है। पाप से पुण्य प्रधान है, मोक्ष पुण्य पूर्वक होता है, पाप करके कोई मोक्ष नहीं गया, पुण्य करके पुण्य को छोड़कर शुद्ध भाव में आकर मोक्ष हुआ करता है। साक्षात् तो पुण्य से भी मोक्ष नहीं होता, पुण्य करने से तुरन्त मोक्ष नहीं होता। पुण्य करने वाले की ऐसी पात्रता रहती है कि वह मोक्ष के मार्ग में लग जायेगा, तो जब मोक्षमार्ग में लगा और बढ़ा तो उसका पुण्य भी छूट गया। पाप तो पहले छूट गया था, अब पुण्य भी छूट गया, अब उसके शुद्धोपयोग आ गया और शुद्धोपयोग से मोक्ष होता है। तो मतलब यह है कि मोक्ष पुण्य पूर्वक होता है इस कारण से पुण्य के आस्त्रव बताना चाहिए कौन सा हमारा परिणाम है जिससे पुण्य का आस्त्रव होता है। उसका वर्णन करने के लिए सप्तम अध्याय के प्रारम्भ में यह सूत्र कहा है—‘हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्वतम् ।’

(१०८) शान्तिलाभ के लिये धर्मलाभ की अनिवार्यता—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन ५ पापों से विरक्त होना व्रत कहलाता है। कोई नास्तिक लोग ऐसा भी सोच सकते हैं कि मनुष्य जीवन पाया तो मौज से बिताओ। व्रत, तप, कष्ट करके करने से क्या फायदा है? कोई लोग ऐसा सोच सकते हैं और उनकी दृष्टि में धर्म का कोई महत्व नहीं है। लेकिन निष्पक्ष रूप से सोचा जाये तो हर एक कोई जीवन में शान्ति चाहता है, सो यह खूब नजर करके देख लो कि किसी पर पदार्थ में, किसी विषय में किसी के आधीन बनकर रहने में शान्ति मिलती है या सब बखेड़ों को दूर करके आराम से बैठने में शान्ति मिलती है, तो अपने अपने अनुभव सभी बतायेंगे कि दूसरे के आधीन रहने में शान्ति नहीं मिलती और जो विषयों के आधीन रहेंगे वे परतंत्र रहेंगे

। तो परतंत्रता में शान्ति नहीं है, स्वतंत्रता में शान्ति है और स्वतंत्रता भी कैसी? देखिये हम आप सबका परिणाम धर्म के लिए चाहता तो है पर धर्म का जो मूल स्रोत है, कहां से धर्म निकलता है और किसका सहारा लेने से धर्म निकलता है इसका ज्ञान न होने से धर्म के नाम पर परिश्रम बहुत कर डालते हैं और शान्ति नहीं मिलती । उसका कारण क्या है कि अभी तक धर्म का स्रोत नहीं जाना कि धर्म धरा कहां है? हम यह ख्याल करते हैं कि धर्म हमें मंदिर से मिल जायेगा, अमुक चीज से मिल जायेगा, केवल इतना ख्याल है । किन्तु, ध्यान यह होना चाहिये कि धर्मस्वरूप तो हमारा आत्मा है । आत्मा का स्वभाव ज्ञान है वही धर्मस्वरूप है और इसी धर्मस्वरूप आत्मा का जिन्होंने सहारा लिया है वे अरहंत सिद्ध भगवान हुए हैं ।

(१०९) धर्मसाधनों की धर्मदृष्टिप्रयोजकता—हम मंदिर इसलिए जाते कि हम अरहंत सिद्ध भगवान के गुण सोचेंगे और उससे हमको अपने आत्मा की खबर मिलेगी और आत्मा का कुछ सहारा लेंगे तो हमें धर्म मिलेगा सो यह दृष्टि तो नहीं है, पर सीधी दृष्टि यह है कि हमको इस मंदिर से धर्म मिलेगा याने मंदिर की भीतों से या मन्दिर की मूर्ति से । अरे धर्म तो आत्मा को मिलेगा उस आत्मा के स्वरूप से ही, पर वह मिले कैसे? तो उस आत्मस्वरूप की सुध करने के लिए हम भगवान के मंदिर में जायेंगे और वहाँ भगवान के स्वरूप को विचारेंगे तो हमारे यहाँ वहाँ के ख्याल सब दूर हो जायेंगे और उस समय जो हमको अपने आत्मा का स्पर्श होगा उससे आनन्द जगेगा । आनन्द हमेशा अपने आत्मा से ही जगेगा, दूसरे पदार्थ से जगेगा नहीं । भगवान की भक्ति करते समय भी जितना आनन्द जग रहा है वह भगवान से निकलकर नहीं जग रहा है किन्तु इस आत्मा में से उठ उठकर जग रहा है । तो इसकी जिसको खबर हो जाये उसे अपने आप में आनन्द मिलेगा और जिसको अपनी ही खबर नहीं है उसे आनन्द कहां से मिलेगा? तो यह तथ्य निकला कि आत्मा इस जीवन में सुख शान्ति चाहता है । तो परलोक है या नहीं इस, बात को भी छोड़ दो, पर इस समय हमको शान्ति मिलने का ढंग क्या है यह तो समझ लो।

(११०) विषयों से विरति होने में ही सबको लाभ—कोई नास्तिक कहते कि न तो स्वर्ग है, न नरक है, हमें तो ये कहीं दिखते नहीं इसलिए क्यों धर्म करना, क्यों ब्रत तप आदि करके कष्ट उठाना? अच्छा तो चलो थोड़ी देर को उनकी ही बात मान लो स्वर्ग, नरक नहीं हैं, पर इस जीवन में भी तो सुख शान्ति चाहिए ना? तो निर्णय करो कि संसार के ये पदार्थ जो हमारी इन्द्रिय के विषयभूत हैं इनकी गुलामी करने में आकुलता होती कि सुख मिलता? कोई बता देंगे कि आकुलता मिलती है, सुख शान्ति नहीं मिलती तो इस ही जीवन को शान्त बनाने के लिए आवश्यक है कि विषयों का मोह छोड़े । अभी यह हम उसको कह रहे जो कि परलोक नहीं मानते और अगर परलोक आया तो आगे जाकर सुख शान्ति पायेंगे । अगर मान लो परलोक है नहीं तो इस जीवन में तो सुख शान्ति से रह लेंगे । हर दृष्टियों से विषयों की प्रीति छोड़ना सुख शान्ति के लिए आवश्यक है । नहीं तो देखो विषयों में रमते-रमते जिन्दगी गुजर जाती ओर जैसे-जैसे जिन्दगी गुजरती है वैसे ही वैसे यह अपने को रीता अनुभव करता है कि मेरे को कुछ नहीं मिला, मेरे को कुछ नहीं रखा । तो अगर विषयों से सुख होता तो जिन्दगी भर विषय भोगे वे सब जोड़ जोड़कर आज कुछ सुख का भंडार रहता, पर बात तो इससे उल्टी दिख रही । ज्यों-ज्यों जिन्दगी बीतती जा रही, वृद्धावस्था में आते हैं त्यों-त्यों और भी दुःखी होते

हैं। इससे सिद्ध होता है कि पदार्थों में सुख नहीं भरा है। सुख मिलेगा तो अपने आत्मा में। मिलेगा, आत्मा के आलम्बन से मिलेगा।

(१११) माया के प्रति आस्था का कारण व्यामोह स्वप्न—यहां तो अज्ञान छाया है सो यह जीव इस दिखने वाली दुनिया को सच मान रहा। जैसे कि सोते हुए में कोई स्वप्न आ जाये तो स्वप्न में देखी हुई बात सच मालूम होती है ऐसे ही मोह की नींद में जो ये घटनायें दिख रही हैं वे सब सच मालूम हो रही हैं। यह मानता है कि मेरा नाम फैलेगा, यश फैलेगा, कीर्ति चलेगी, मेरा बड़प्पन चलेगा मगर इस मायामयी दुनिया में यश किसका नाम है? अनन्ते चौबीस तीर्थकर अब तक हो चुके, समय की कोई आदि तो नहीं है, अब तक कितने ही चौथे काल व्यतीत हो चुके उस काल में २४ तीर्थकर होते आये, बताओ आज उनके नाम भी कोई जानता है क्या? उनकी तो बात छोड़ो, आज के ही २४ तीर्थकरों के नाम कोई नहीं जानते, बिरले ही लोग जानते, तो काहे का नाम। अब वे भगवान सिद्ध होते हैं तो हम उन्हें जाने या न जाने, वे तो अपने अनन्त आनन्द में लीन हैं, उनमें कुछ फर्क नहीं पड़ता। तो बताओ यश नामवरी न रहने से कोई दुःख होता है क्या? बल्कि यश नामवरी जब चलती है तो कष्ट होता है, जिसका नाम बढ़ा है वह हमेशा यह ख्याल रखता है कि मेरे यश में कमी न आये, मेरा यश कहीं मिट न जाये, तो वह उस शत्य के मारे धर्म से दूर हो जाता है।

(११२) शान्ति का आधार अन्तस्तत्त्व—शान्ति मिलेगी तो अपने आपके आत्मा की दृष्टि करने से मिलेगी, अन्य प्रकार से नहीं, यह बात सुनने को मंदिर में मिलती है, यह बात निरखने को मूर्ति में मिलती है इसलिए हम दर्शन करते हैं। कहीं यहाँ मंदिर के ईंट, भींट, फर्श आदि से धर्म न मिलेगा। कहीं किसी स्थान से धर्म नहीं मिला करता किन्तु वह स्थान धर्म का साधन है। उस धर्मस्थान पर रहकर धर्म का काम करगे तो धर्म मिलेगा, उस स्थान पर भी यदि धर्म का कोई काम न करे तो कोई जगह में आने भर से शान्ति नहीं मिलती। और, कभी थोड़ा मंदिर की जगह में बैठने से भी शान्ति मिलती है तो वह भी धर्म के प्रताप से ही मिलती है, जगह के प्रताप से नहीं। वहाँ जाकर भी धर्म के भाव थोड़े हुए तो थोड़ी शांति, अधिक हुए तो अधिक शान्ति मिलती है, तो शान्ति अपने धर्मभाव से मिलती है।

(११३) धर्मलाभ के लिये पापविरति की अनिवार्यता—धर्म को पाने के लिए पहले यह आवश्यक है कि पापों को छोड़ा जाये। कोई पाप भी करता रहे और धर्म भी चाहता रहे, ये दो बातें नहीं हो सकती। जैसे एक म्यान में दो तलवार नहीं सभा सकती, ऐसे ही धर्म और पाप ये दोनों एक साथ रह नहीं सकते। अगर धर्म करना हो तो पाप छोड़ना ही होगा। चूंकि मोक्ष पुण्यपूर्वक होता, पुण्य से मोक्ष नहीं होता, पर पुण्य होकर भाव शुद्ध हों और वीतराग दशा में आये तो पुण्य छूटकर मोक्ष हो, मगर पुण्य में आये बिना मोक्ष नहीं होता और पुण्य के छोड़े बिना मोक्ष नहीं होता। ये दो बात कैसे कही? अगर कोई पुण्य के मार्ग में न चले तो वह उस मार्ग को पा नहीं सकता कि जिस मार्ग से चलकर वह अपने घर पहुंचे। जैसे मानो कोई एक छोटी गली गई है, और वह एक बड़ी सड़क से मिली है, उस बड़ी सड़क से चलकर मानो आपको किसी नगर पहुंचना है, अब उस नगर में पहुंचने के लिए, वह सड़क तो धीरे-धीरे छूटती ही जायेगी। उस सड़क के छोड़े बिना उस नगर में नहीं पहुंचा जा सकता, तो ऐसे ही समझो कि मुझे पुण्य मार्ग से चलकर मोक्ष प्राप्त करना है तो धीरे-

धीरे वह पुण्य छूटता जायेगा, शुद्ध भाव बढ़ता जावेगा तभी तो मोक्ष मिल पायेगा । पुण्य के किये बिना व पुण्य के छोड़े बिना मोक्ष तो न मिल पायेगा । बताओ धर्म नाम है क्या? तो जहाँ रागद्वेष न रहे और केवल ज्ञान में ज्ञान का अनुभव रहे उसका नाम धर्म है, और पुण्य नाम किसका है? तो अरहंत सिद्ध भगवान में भक्ति करना, धर्मानुराग करना, प्रभावना करना यह सब पुण्य कहलाता है । तो पुण्य में जिसको पुण्य न करना आये उसको धर्म करना न आ पायेगा, मगर मोक्ष मिलेगा धर्म से ही, पुण्य से नहीं । इतना अन्तर है इस कारण से कि चूंकि मोक्ष पुण्यपूर्वक होता है । यहाँ पूर्वक का अर्थ पहले होता है यह लेना ।

(११४) **मोक्षमार्ग में ब्रतों की परिष्कृतता**—जिस पुण्यपूर्वक मोक्ष होता है उस पुण्य भाव को बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन ५ पापों से विरक्त होना ब्रत है । देखिये— जैसे भोजन का नाम लेने मात्र से पेट नहीं भरता, खाने से पेट भरता ऐसे ही धर्म की बातें करने मात्र से अपना उद्धार नहीं होता, किंतु जो धर्म का स्वरूप है उसे करें तो उद्धार होगा । तो अपने आपमें यह खोज कीजिए कि हम रागद्वेष छोड़कर ज्ञान के सही मार्ग में कितना चल पाते हैं और धन वैभव कुटुम्ब परिजन आदि में, यहाँ वहाँ की फिजूल की बातों में हम कितना दिल बसाया करते हैं, यह हिसाब जरूर परखना चाहिए । अगर हम राग में, विषयों में ही फँसे रहकर अपना जीवन बिताते हैं तो वह जीवन बेकार समझिये । क्योंकि वे सब बातें तो पशु पक्षी के भव में भी मिल जाती । बताओ एक गाय को अपने बछड़े से कम प्यार होता है क्या? नहीं होता, तब फिर बताओ इस मनुष्य भव में आकर ऐसा कौन सा अपूर्व काम कर लिया जो किसी अन्य भव में नहीं किया? जो आत्मा का स्वरूप जानेगा, पाप उसी के अच्छी तरह करेंगे । एक बनावटी ढंग से या जबरदस्ती के ढंग से पाप छोड़ने से पाप न छूटेंगे और एक आत्मा के स्वरूप का ज्ञान होने के बाद जो एक सहज वैराग्य जगता है उसके कारण जो पाप छूटते हैं वे मूल से पाप छूटते । जैसे किसी बच्चे से कोई कहे कि रे बच्चे तू क्रोध न करने का नियम ले-ले और वह कहे कि हम यह नियम न निभा पायेंगे, फिर भी कोई जबरदस्ती करे । मानो क्रोध के समय उसके मुख में पानी भर दे, वह कुछ बोल न सके तो भी बताओ उसका क्रोध दूर हो गया क्या? हाँ इतनी बात तो है कि यह अन्तर आ जायेगा कि वह अपने क्रोध की बात को मुख से बोल न पायेगा, जिससे लड़ाई न हो पायेगी, मगर भीतर में चाहें कि उसके क्रोध न रहे तो यह बात हो नहीं सकती, क्योंकि उसके मन में संस्कार तो बना ही है । उस संस्कार के कारण क्रोध तो उसे आयेगा ही । और, जिस समय उसको यह ज्ञान होगा कि मेरे आत्मा का स्वरूप कषाय करने का है ही नहीं, अविकार स्वरूप हूँ मैं, ज्ञानमात्र हूँ मैं, तो वह अपने ज्ञान की उपासना के बल से क्रोध को जड़ से उखाड़ फेंकता है । तो जबरदस्ती के त्याग से मूलतः पाप नहीं मिटते, किन्तु आत्मा का ज्ञान होने पर फिर त्याग हो तो मूल से पाप मिटते हैं । फिर भी इतना फर्क हो सकता है कि किसी से जबरदस्ती भी मनाई की करें कि तुम छोड़ दो तो कुछ दिन को तो मान लो त्यागे रहा वह चीज, संकोचवश उसका ग्रहण वह न कर सका, मगर बाद में वह उसका ख्याल भूल सकता है और वह फिर उसी मार्ग में लग सकता है । तब भी वह सच मार्ग में तो तब लग सकता है जब कि उसको आत्मा का ज्ञान हो । इसलिए आत्मा का धन ज्ञान है, दूसरा कोई वास्तविक धन आत्मा का नहीं है ।

(११५) सुख शान्ति का आधार विकारपरिहारक ज्ञानबल—सुख शान्ति से रहना है तो ज्ञान के बल से रहा जा सकता है, कोई दूसरा बल काम न देगा। मोक्ष में भी कोई जायेगा तो वह ज्ञान के बल से ही जायेगा, किसी दूसरे के बल से नहीं। जो बहुत तपश्चरण होते हैं—बैठ गए गर्मी में सर्दी में तो उन तपश्चरणों में आत्मा को ज्ञान में लीन होने का एक उपाय बनता है, मगर देह तपन से मोक्ष हो जाये सो बात नहीं। गर्मी में बैठकर तपश्चरण किया तो उस स्थिति में आत्मा को ज्ञान प्रेरणा मिलती है। विषयों से वैराग्य जगा उससे मोक्ष मार्ग मिला। सो भैया, करना तो सब पड़ेगा बाह्य व्यवहार चारित्र, मगर भीतर में अन्तरात्मा में जोर देते हुए जो ज्ञान में चलेगा उसको मोक्ष की प्राप्ति होगी। जब ज्ञान ही नहीं है तो फिर क्या करेगा? इसलिए आत्मा का जैसे ज्ञान मिले, ज्ञान भी वास्तविक वह जो कि विषयविरतिसमृद्ध हो ऐसा ज्ञान मिले उस उपाय में लगना चाहिए और उसका उपाय क्या है? तो मुख्य उपाय उसके हैं दो—१-स्वाध्याय और २-सत्संग। इन दो साधनों के सहारे से ज्ञान में चलने की प्रेरणा मिलेगी। इन दो साधनों से अपने आपको जीवन में बढ़ावे और ये जो बाहरी संग प्रसंग है घर द्वारा, स्त्री पुत्रादिक ये तो मरने पर छूटेंगे ही, ये साथ तो देंगे नहीं आगे। ज्ञान और वैराग्य का जो संस्कार यहाँ बना लेंगे वह अपना साथ देगा। यहाँ के कोई भी बाहरी समागम साथ न देंगे। जब ऐसा तथ्य है तो कुछ अपने आप पर दया करके अपने हित के लिए कुछ सोचना चाहिए कि हम एकदम बाहर के पदार्थों में ही ध्यान लगा लगाकर जो अपना जीवन गुजार रहे हैं इससे मेरे को नुकसान ही होगा, फायदा कुछ नहीं, क्योंकि जिन बाहरी पदार्थों को हम अपना रहे वे कोई साथ न निभायेंगे। तो अपने सहज आत्मतत्त्व को पाने के लिए उन ५ पापों से विरक्त होना जरूरी है सो इन ५ पापों से विरक्त होने की बात इस सूत्र में कही जायेगी। भावहिंसा—किसी का बुरा न विचारें, किसी का बिगाड़ करने का यत्न न करें, किसी की झूठी बात न बोलें, किसी की चीज न चुरायें, किसी परस्ती अथवा परपुरुष पर गंदे विचार न बनायें, बाह्य परिग्रहों की तृष्णा मत करें, इस प्रकार इन ५ प्रकार के पापों से जो विरक्त होना है उसे ब्रत कह लीजिए। चारित्रमोहनीय के उपशम या क्षय या क्षयोपशम के निमित्त से होने वाले औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक चारित्र के आविर्भाव से जो एक विरतिभाव उत्पन्न होता है, विषयों से अत्यन्त पृथकपना होता है उसको विरति कहते हैं। ब्रत नाम है संकल्पपूर्वक नियम करना, जैसे कि यह ऐसा ही है, यह ही है, यो ही करना चाहिए इस प्रकार के तीव्र आशय से जो अन्य बातों से निवृत्त होना है उसका नाम नियम है। तो दृढ़ संकल्प से किया हुआ शुभ प्रवर्तन सब जगह ब्रत नाम पाता है।

(११६) बुद्धि से अपाय होने पर हिंसादिकों में ध्रुवत्व की विवक्षा के कारण प्रथम पद में अपादानकारकत्व की उपपत्ति—इस सूत्र में ३ पद हैं जिसमें प्रथम पद अपादानकारक में है याने इन पापों से। सो उसके विषय में यहाँ शंका होती है कि अपादान कारक वहाँ लगाया जाता है जहाँ वस्तु ध्रुव हो और उससे कोई चीज अलग होती हो। तो जब हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह ये पाप ध्रुव तो हैं नहीं, ये तो खोटे परिणाम हैं, अध्रुव हैं, क्षण में होते हैं, विलीन होते हैं, तो जब क्षणिक हैं वे तो उनसे कुछ अपाय न हुआ इस कारण अपादान कारक यहाँ न लगाना चाहिए। यदि कोई इस शंका का समाधान यह करे कि हिंसा आदिक पापों में परिणत आत्मा ही हिंसा आदिक नाम पाता है क्योंकि हिंसा आदिक आत्मा के परिणाम है, सो वे कुछ आत्मा से अलग

वस्तु नहीं है, तो यों पर्यायदृष्टि करने से हिंसा आदिक में ध्रुवपने की कल्पना कर ली जायेगी और इस प्रकार उनसे विरति करना ब्रत है यह अर्थ बन जायेगा। सो कहते हैं कि इस प्रकार भी अपादान कारक नहीं बनता, फिर कैसे बनता है कि बुद्धि में उन्होंने हिंसा आदिक पापों को एक मान लिया कुछ ध्रुव के ढंग का, फिर उससे विरति हुई, यों अपादानकारक हो जायेगा। हिंसा आदिक परिणामों को आत्मा ही मानकर अपादान न बन सकता था क्योंकि आत्मा तो नित्य है, हिंसा आदिक अनित्य हैं मगर बुद्धि में किसी चीज को ध्रुव रूप से कल्पना करके अपादान कारक बन जाता है। जैसे यह कहना कि यह धर्म से विरक्त होता है। कोई पुरुष धर्म को नहीं मानता तो उसको कहते हैं कि यह तुच्छ बुद्धि वाला मनुष्य धर्म से विरत रहता है, तो ऐसा वाक्य बोलने में धर्म शब्द में पंचमी विभक्ति आ गई है। अपादान बन गया, कैसे कि उसकी बुद्धि में धर्म के प्रति यह भाव जग रहा कि धर्म तो दुष्कर है, कठिनाई से किया जाता है और फल भी इसका श्रद्धा मात्र गम्य है। इस तरह से एक धर्मभाव के प्रति बोलने के मुड़ में ध्रुवत्व की कल्पना करना, उसमें इदं का प्रयोग करके ध्रुव मानकर अपादान कारक बना लिया जाता है, इसी प्रकार इन हिंसा आदिक परिणामों के प्रति ऐसी बुद्धि हुई। यह बुद्धिमान मनुष्य यों देखता है कि ये हिंसा आदिक परिणाम पाप के कारण हैं और पापकर्म में प्रवृत्ति करने वाले पुरुष को यहाँ भी राजा लोग दण्ड देते हैं और वह परलोक में नाना प्रकार के दुःख प्राप्त करता है। सो अपनी बुद्धि से ऐसा उसे पा करके उसे मानो ध्रुवरूप मानकर उससे बात करके यों ध्रुव समझकर वहाँ से अपादान बन जाता है तो बुद्धि के द्वारा ही इसमें ध्रुवपने की विवक्षा होने से अपादानपना इस सूत्र के प्रथम पद में बन गया।

(११७) अहिंसा ब्रत की प्रधानता होने से अहिंसाब्रत का प्रथम निर्देशन एवं विरति की सामान्यैकरूपता—अब इन ५ नामों में सबसे पहले अहिंसा ब्रत कहा है। सो सबसे पहले कहने का प्रयोजन यह है कि अहिंसा ब्रत प्रधान है। शेष के जो चार ब्रत हैं—सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह सो ये भी अहिंसा का पालन करने वाले ही हैं। जैसे कि खेती में मुख्य बात है अनाज पैदा करने की। उसका ही पालन किया जाता है, उसकी ही प्रधानता है, पर बाड़ जो लगायी जाती है वह उस अनाज की रक्षा के लिए लगायी जाती है, ऐसे ही मोक्षमार्ग में चलने के लिए, उसके पालन के लिए, उसको निर्दोष निभाने के लिए सत्य आदिक ब्रत कहे गए हैं। इस सूत्र में विरति शब्द दिया गया है, उसका प्रत्येक के साथ योग किया जायेगा। जैसे हिंसा से विरति, झूठ से विरति, चोरी से विरति, अब्रह्मचर्य से विरति और परिग्रह से विरति। यहाँ विरति शब्द सबके साथ लगाया गया, ऐसा सुनकर एक शंकाकार कहता है कि जब विरति अनेक हो गई, ५ पापों से विरतियां कराई गई तो विरति शब्द में बहुवचन का प्रयोग होना चाहिए था, एकवचन का प्रयोग क्यों कहा गया है? जैसे कि गुड़, तेल, चावल आदिक पकाये जाने योग्य हैं, उनके भेद से विकास के भेद कर दिए जाते हैं। जैसे कहते हैं कि दो पाक हो गये, तीन पाक हो गये, ऐसे ही छोड़ने योग्य जो हिंसा आदिक भेद हैं उनसे जो त्याग कराया गया है सो भेदविवक्षा उत्पन्न हो गई इस कारण विरति शब्द को बहुवचन में प्रयुक्त करना चाहिए? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि ऐसी आशंका न करना, क्योंकि यहाँ पर उन ५ पापों के विषय से विरक्त होना, इससे कोई सामान्य को ही ग्रहण करना है। इस विषय के भेद से विरति में भी भेद है ऐसी विवक्षा नहीं है।

यहाँ जैसे कि गुड़, तेल, चावल आदिक का पाक होता है यहाँ सामान्य की जब विवक्षा होती है तो पाक शब्द में भी तो एक वचन कर लिया जाता है, तो ऐसे ही ५ पापों से वैराग्य होता है तो उस वैराग्य सामान्य की विवक्षा है इस कारण विरति शब्द में एकवचन लगाना न्याययुक्त है। इस ही कारण सर्वसावद्यनिवृत्तिरूप सामान्यिक की अपेक्षा ब्रत एक है और जब भेद की विवक्षा करें तो वह ब्रत ५ प्रकार का है।

(११८) ब्रतों के परिस्पन्ददर्शन के कारण संवररूपपना न होकर ब्रती की संवरपात्रता होने के कारण संवरपरिकर्मपना—यहां शंकाकार कहता है कि इन ब्रतों का अर्थात् ५ पापों से निवृत्त होना ब्रत है, इस बात का आस्रव के प्रकरण में बोलना अनर्थक है, क्योंकि इसका तो संवर में अन्तर्भाव हो जायेगा, सो जब संवर तत्त्व का अध्याय चलेगा तो उसमें यह स्वयं आ ही जाता है और कोई यदि ऐसा समाधान करने की कोशिश करे कि यह तो केवल कहने मात्र की बात है कि ब्रतों का अन्तर्भाव हो जाता है, तो सुनो—संवर के अध्याय में दस धर्मों का वर्णन आता है उन क्षमा आदिक दस धर्मों में एक संयमर्थ भी है। उस उत्तम संयम में अहिंसा आदिक पांचों ब्रतों का अन्तर्भाव हो जाता है या सत्य आदिक धर्म हैं उनमें अन्तर्भाव हो जाता है। फिर यहाँ आस्रव के प्रकरण में कहना अनर्थक है। यदि कोई ऐसा समाधान दे कि भले ही संयम में अन्तर्भाव हो जाता है पर यह ब्रत का विस्तार बता दिया, संयम किस प्रकार से होता है उसके विस्तार में यहाँ कथन कर दिया तो यह भी उत्तर उनका ठीक नहीं है, क्योंकि संयम में जिसका अंतर्भाव है उसका यदि विस्तार करना है तो विस्तार वहाँ ही किया जा सकता है जिसमें कि इसका अंतर्भाव है, पर संवर का प्ररूपण करने वाले अध्याय में ये ब्रत बताये जाते, यों संयम में अन्तर्भाव माना जा रहा है, सो यहाँ ब्रतों का कहना अनर्थक रहा ना। अब उक्त शंका के समाधान में कहते हैं कि ये जो ५ ब्रत हैं ये संवर नाम नहीं पा सकते, क्योंकि इन ब्रतों में परिस्पन्द देखा जाता है, कोई प्रवृत्ति देखी जाती है। अशुभ से हटकर शुभ में प्रवृत्ति हो रही यह बात ब्रतों में पायी जाती और संवर में परिस्पन्द का भाव रहता है। कोई मनुष्य आरम्भ का त्याग करता है तो इसके मायने है सत्य बोलता है, चोरी का त्याग किया, बिना दी हुई चीज का ग्रहण करना छोड़ दिया, मतलब दिया हुआ ही ग्रहण करता है। तो इस तरह इन ५ ब्रतों में परिस्पन्द पाया जा रहा है इस कारण से इसका संवर में अन्तर्भाव नहीं होता। यह आश्रवरूप है, और है शुभ आस्रव, मगर संवररूप नहीं बन पाते हैं। दूसरी बात यह है कि गुस्ति आदिक संवरों का वर्णन आगे किया जायेगा, उससे इन ब्रतों को भी संवरार्थ समझ लीजिए। याने ब्रत विधान करके ऐसी पात्रता उत्पन्न की गई कि अब वे गुस्ति आदिक संवर को कर सकेंगे इस कारण से इन ब्रतों का पृथक वर्णन करना सही है।

(११९) रात्रिभोजनविरति का अहिंसाब्रत में अन्तर्भाव—एक शंकाकार कहता है कि रात्रिभोजन से विरति होना यह भी तो एक ब्रत है और छठवां अणुब्रत है, इस नाम से कहीं कथन भी किया जाता है सो उस रात्रिभोजनविरति का भी इस सूत्र में नाम दिया जाना चाहिए था। जैसे हिंसा से विरति, झूठ से विरति आदिक कहा गया ऐसे ही रात्रिभोजन से विरति यह भी कहना चाहिए। तो इसके उत्तर में कहते हैं कि रात्रिभोजनविरति का अहिंसा ब्रत की भावना में अन्तर्भाव हो जाता है। कोई प्रश्न कर सकता है कि भावनाओं में तो रात्रिभोजनविरति का

नाम नहीं दिया गया । भावना भी प्रत्येक व्रत की ५-५ कही गई, किन्तु वहाँ किसी भी व्रत की भावना में रात्रिभोजनविरति नहीं दिया गया । तो शंड़ा यों न करना चाहिए कि अहिंसा व्रत की भावनाओं में आलोकितपानभोजन ये शब्द दिये गए हैं, सो आलोकितपानभोजन का क्या अर्थ है? देख करके भोजन करना । सो इस शब्द से ही रात्रिभोजनविरति की बात आ जाती है, क्योंकि रात्रि में अंधकार रहता है, वहाँ भोजन आदिक साफ दिखाई नहीं दे सकते इसलिए उसका त्याग स्वयं ही बन गया । इस पर एक प्रश्नकर्ता कहता है कि अगर दीपक आदिक जला दिए जाये, प्रकाश किया जाये तो रात्रि में भी देख करके भोजनपान हो जायेगा, जैसे कि देखकर भोजन करने की वृष्टि से दिन में भोजन करना बताया जा रहा है तो दीपक हंडा आदिक का जहाँ अच्छा प्रकाश हो वहाँ भी तो भोजनपान सब दिखता है । तब रात्रि में भोजन कर लिया जाना चाहिए? तो यह प्रश्न भी ठीक नहीं है, क्योंकि दीपक आदिक करने पर अनेक आरम्भ के दोष आते हैं । अग्नि आदिक का साधन जुटाना आदिक दोष होते हैं, तो इस पर फिर वही प्रश्नकर्ता कहता है कि यदि दूसरा कोई पुरुष दीपक जला दे और इस तरह उसका आरम्भ किए बिना दीपक का उजेला मिल जाये तब तो रात्रिभोजन कर लिया जाना चाहिए वहाँ तो दोष न होता होगा? तो इसके उत्तर में कहते हैं कि यह भी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ भली प्रकार आना जाना आदिक असम्भव हैं । हाँ सूर्य के प्रकाश से, अपने ज्ञान के प्रकाश से, इन्द्रिय के प्रकाश से जो मार्ग अच्छी तरह से परीक्षित है, दूर तक देखा जा सकता है, ऐसे देश और काल में चर्या करके साधु लोग आहार लेवें ऐसे आगम में उपदेश किया गया है, यह विधि रात्रि में तो नहीं बनती है, रात्रि में तो मलिनता बनती है, रात्रि में आने जाने का कार्य भी नहीं बन सकता है अतएव रात्रि में भोजनपान करना आलोकितभोजनपान में नहीं आता ।

(१२०) दिन में लाकर रात्रि में भोजन करने पर भी अनेक पापारम्भों की विडम्बना—अब यहाँ वही प्रश्नकर्ता कहता है कि दिन में तो भोजन ला दिया जाये और रात्रि में भोजन कर लिया जाये, इसमें तो आरम्भ नहीं हुआ । तो इसके उत्तर में भी यही समझना कि प्रदीप आदिक का समारम्भ तो हो ही गया और यह संयम का साधन नहीं है कि ला करके भोजन करना । संयमी जीव जो कि परिग्रहरहित है, हस्तपात्र में ही जो आहार लेता है उसको कहीं से भोजन लाना कैसे सम्भव हो सकता? यदि कुछ पात्र रख लिए जायें तो उसमें अनेक पाप लगते हैं । एक तो दीनता का भाव होता सो दीन चर्या बन जाने से फिर तो निवृत्ति परिणाम सम्भव ही नहीं हो सकता । जिसके अति दीनवृत्ति आ गई उसके पूर्ण निवृत्ति के परिणाम नहीं हो सकते, क्योंकि सर्व पापों का जहाँ त्याग किया गया वहाँ उस पात्र को जब ग्रहण कर लिया, बर्तन रख लिया तो पात्र का परिग्रह तो रहा ही रहा, पात्र से लाकर परीक्षा करके भोजन भी करे कोई तो उस साधु को लाना, धरना, अलग करना आदिक से होने वाले गुण दोष भी तो सोचने पड़ते हैं और जो आहार लाया गया उसके लाने में भी और छोड़ने में भी अनेक दोष होते हैं । तो जैसे सूर्य में प्रकाश में सर्व पदार्थ स्पष्ट दिखते हैं दाता, भूमि, जल, भोजन पान, गिरना रखना आदिक, उस तरह से रात्रि को चंद्र के प्रकाश में नहीं दिखते, इस कारण दिन में ही भोजन करना निर्दोष आचरण है । यह रात्रिभोजन का त्याग अहिंसा व्रत की आलोकितपानभोजन नाम की भावना में अन्तर्भूत हो जाता है ।

(१२१) प्रसंगविवरण—उक्त प्रकार ब्रत ५ रहे । ५ पापों के त्याग में ५ ब्रत हुए । ये पांचों ब्रत शुभभाव हैं और शुभभाव होने से शुभास्रव के कारण हैं । ७वें अध्याय में शुभ आस्रव की बात कही जा रही है । जैसे पहले अध्याय में ज्ञान के उपाय बताये गए तो दूसरे तीसरे चौथे अध्याय में जीवतत्त्व का वर्णन हुआ । तो छठवें और ७वें अध्याय में आस्रव तत्त्व का वर्णन है । छठवें अध्याय में तो आस्रव का सामान्य कथन है । उसमें जुदे-जुदे शुभ अशुभ की बात की गई है, उसका मात्र संकेत ही दिया गया है । ७वें अध्याय में शुभ आस्रव की बात कही जा रही है । इस प्रकार ५ पापों से विरक्त होना ब्रत है यह इस सूत्र का तात्पर्य हुआ । सत्तम अध्याय के इस प्रथम सूत्र में सामान्यतया ५ प्रकार के विषयों से विरक्ति होनेरूप ब्रत का कथन है । सो वे समस्त ब्रत विरति के आश्रय की विवक्षा में दो ही प्रकार बन सकते हैं कि या तो वहाँ पूरी विरक्ति है या थोड़ी विरक्ति है । सो उन ही दो प्रकारों को अब सूत्र में बताते हैं ।

## सूत्र 7-2

देशसर्वतोऽणुमहती ॥७—२॥

(१२२) ब्रत के एकदेशविरति व सर्वदेशविरति के भेद से दो प्रकार—विरति दो प्रकार की है—(१) एकदेश विरति (२) सर्वदेश विरति । एकदेश से विरक्त होने का नाम अणुब्रत है, सर्व देश से विरक्त होने का नाम महाब्रत है । देश शब्द दिश् धातु से बना है, जिसकी निरुक्ति है—कुतश्चित् अवयवात् दिश्यते इति देशः कुछ अवयवों से जो कहा जाये उसे देश कहते हैं अर्थात् एक देश । और सर्व की निरुक्ति है—सरति अशेषान् अवयवान् इति सर्वः । जो समस्त अवयवों को प्राप्त हो उसको सर्व कहते हैं । सर्व, मायने परिपूर्ण । सो यही देश और सर्व इन दो शब्दों में द्वन्द्व समाप्त किया गया है और फिर पंचमी अर्थ में तसल् प्रत्यय किया गया है, जिसमें अर्थ हुआ कि एक देश और सर्वदेशों से । पूर्व सूत्र से विरति शब्द की यह । अनुवृत्ति की गई है तब अर्थ हुआ कि एक देश से विरक्त होना और सर्वदेश से विरक्त होना अणुब्रत और महाब्रत है । अणु और महान् ये दो शब्द विशेषण हैं । पूर्व सूत्र से ब्रत शब्द की अनुवृत्ति लाकर यहाँ अणुब्रत और महाब्रत अर्थ होता है, इस ही से इस द्वितीय पद को द्वन्द्व समाप्त करके नपुंसक लिंग में द्विवचन में रखा गया है । यहाँ कोई जिज्ञासा करता है कि ब्रत होता है एक अभिप्राय और संकल्प की दृढ़तापूर्वक । जैसे मैं हिंसा न करूँगा अथवा नहीं करता हूँ, मैं झूठ नहीं बोलता हूँ या न बोलूँ या बिना दी हुई चीज न लूँ मैं किसी अंगना का स्पर्श न करूँ, मैं परिग्रह को न ग्रहण करूँगा, ऐसी दृढ़ता के साथ अभिसंधि करना, प्रयोग करना भाव बनाना ब्रत कहलाता है । सो यहाँ यदि कोई इन भावों के करने में असमर्थ हो या ढील । हो जाये तो वह इस ब्रत को कैसे निभा सकेगा, उसका कोई उपाय होना चाहिए? तो इस जिज्ञासु की मार्ग साधना के लिए कहते हैं कि उन सर्व ब्रतों की ५-५ भावनायें होती हैं । उन भावनाओं के आने से ब्रतों में दृढ़ता आती है । यही बात अब सूत्र में कहते हैं ।

## सूत्र 7-3

तत्स्थैर्यार्थं भावना: पञ्च पञ्च ॥७—३॥

(१२३) ब्रतों की स्थिरता के लिये पाँच-पांच भावनाओं की वक्ष्यमाणता का निर्देश—उन ब्रतों की स्थिरता के लिए ५-५ भावनायें होती हैं। यही भावना शब्द कर्मसाधन में आया है जिससे अर्थ हुआ कि वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से और चारित्रमोह के उपशम से अथवा क्षयोपशम से एवं अंगोपांग नामकर्म के लाभ से आत्मा के द्वारा जो भायी जायें सो भावनायें हैं। यहाँ इस बात का संकेत किया है कि चारित्रमोह के उपशम क्षयोपशम से ये भावनायें बनती हैं। भावनाओं के बनने में मन आदिक अंगोपांग का साधन चाहिए और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम की आवश्यकता शक्ति के लिए है। शक्ति हो, कषाय मंद हो, मन आदिक उचित हो तो ये भावनायें बनती हैं, यही एक शंका होती है कि सूत्र में पंच-पंच शब्द देकर बताया है कि ५-५ भावनायें हैं, तो पंच-पंच दो बार न कहकर केवल एक बार पंच कह कर उसमें शास्त्र प्रत्यय लगा देना चाहिए जिससे पंचशः यह अव्यय पद बन जाता है। ऐसा करने से एक शब्द कम हो जाता है। सूत्र लघु बन जाता है फिर ऐसा क्यों नहीं किया गया? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यहाँ कारक का अधिकार है कि ५-५ भावनायें हैं। पहले से ही यह अर्थ चला आ रहा, क्या-क्या है, इस कारण यहाँ शास्त्र प्रत्यय वाली बात नहीं बनती। तो प्रश्नकर्ता कहता है कि हम यहाँ भावयेत् क्रिया का अध्याहार कर लेंगे अर्थात् ऊपर से लगा लेंगे तब बराबर वाक्य बन जायेगा। उस समय सूत्र का अर्थ इस प्रकार होगा कि ब्रतों की स्थिरता के लिए ५-५ भावनायें भानी चाहिएँ। शास्त्र प्रत्यय भी डबल अर्थ में होता है। उत्तर में कहते हैं कि ऐसा किया जाना योग्य नहीं है, क्योंकि यहाँ विकल्प का अधिकार है, भेद बताया जाने का अधिकार है। दूसरा शास्त्र प्रत्यय विकल्प से हुआ करता है किया भी जाये न भी किया जाये और फिर यहाँ क्रिया का अध्याहार करना एक बुद्धि से ही सोचा जाता है। प्रकरण में कहीं शब्द अनुवृत्ति के लायक नहीं है कि भावना करना चाहिए और फिर क्रिया का अध्याहार करे उसका अर्थ लगाये इससे जानकारी कठिन हो जाती है। स्पष्ट अर्थ नहीं झलकता, इस कारण स्पष्ट अर्थ समझने के लिए पंच-पंच ऐसा स्पष्ट निर्देश करना उचित है। ५ ब्रतों में से प्रथम ब्रत जो अहिंसा ब्रत है उसकी ५ भावनायें कहते हैं।

## सूत्र 7-4

वाङ् मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च ॥७—४॥

(१२४) वचनगुप्ति व मनोगुप्ति विषयक भावनाओं की अहिंसाब्रतसाधकता—अहिंसा ब्रत की ५ भावनायें ये हैं—  
 (१) वचनगुप्ति, (२) मनोगुप्ति, (३) ईर्यासमिति (४) आदान-निक्षेपण समिति और (५) आलोकितपानभोजन। वचन को वश करना वचनगुप्ति है। जो पुरुष मौन से रहे, जिसके नियंत्रण में वचन हैं, सो वचनों के प्रयोग से जो अपने चित्त का सम्प्रभु होता है और दूसरे को क्लेशोत्पत्ति की सम्भावना हो सकती है वह सब न होने से वचनगुप्ति का प्रयोग करना। यह वचनगुप्ति भावना अहिंसा ब्रत का साधक है। वचन बोलकर या तो राग बढ़ता है या द्वेष बढ़ता है तो राग और द्वेष दोनों ही हिंसारूप हैं और द्वेष बढ़ जाये तो उसके इस जीवन में भी

विडम्बना का रूप हो जाता है इस कारण वचनगुप्ति की भावना करने वाला और यथा बल वचनगुप्ति का प्रयोग करने वाला अहिंसा व्रत का साधक होता है। मनोगुप्ति का अर्थ है मन को वश में करना। पाप, हिंसा, अपने को सताना, दूसरे जीवों के दुःख का निमित्त होना ये सब मन से हुआ करते हैं। जिसने मन को वश किया, ज्ञान की लहर से मन को पवित्र बनाया उसके अहिंसा व्रत की साधना सम्भव है इस कारण यथाबल मनोगुप्ति करना। मनोगुप्ति की भावना रखना अहिंसा व्रत का साधक है।

(१२५) ईर्यासमिति आदाननिक्षेपणसमिति व आलोकितपानभोजन-विषयक भावनाओं की अहिंसाव्रत साधकता—  
ईर्यासमिति—अच्छे परिणाम से अच्छे कार्य के लिए दिन में खूब देख भालकर चलना ईर्यासमिति कहलाती है। ईर्यासमिति से प्रवृत्ति वाले पुरुष के हिंसा टलती है, भावहिंसा भी दूर है, द्रव्यहिंसा भी दूर होती है अतः ईर्यासमिति की भावना अहिंसा व्रत का साधक है। आदाननिक्षेपणसमिति—कोई चीज धरना अथवा उठाना तो देख भालकर उस वस्तु को शोधन करना, धरना उठाना आदाननिक्षेपणसमिति है। इस प्रकार की जो क्रिया में चलता है और ऐसी शुभ प्रवृत्ति की भावना रखता है उसके अहिंसाव्रत की साधना होती है और इस कारण आदाननिक्षेपणसमिति अहिंसा व्रत की साधक है। आलोकितपानभोजन—देखा हुआ भोजन पान करना आलोकितपानभोजन है अर्थात्। दिन में भले प्रकार देख शोधकर भोजन पान करना इस प्रकार जो रात्रिभोजन त्याग रखता है और इस प्रकार की भावना रखता है, उसका यह आलोकितपानभोजन अहिंसाव्रत का साधन है। अहिंसाव्रत की शुद्धि निर्दोष चाहने वाले पुरुषों को ये ५ भावनायें भाना चाहिये। अब सत्य व्रत की भावनाओं का सूत्र कहते हैं।

## सूत्र 7-5

**क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च ॥७-५॥**

(१२६) सत्यव्रत की पांच भावनाओं का निर्देशन—सत्य व्रत की ५ भावनायें इस प्रकार है—(१) क्रोधप्रत्याख्यान, (२) लोभप्रत्याख्यान, (३) भीरुत्वप्रत्याख्यान, (४) हास्यप्रत्याख्यान और (५) अनुवीचिभाषण। क्रोधभाव का त्याग करना क्रोधप्रत्याख्यान है। जो पुरुष क्रोध से आवृत रखता है, क्रोध किया करता है क्योंकि क्रोध एक ऐसा नशा है कि जिसमें वह सत्पथ भी भूल जाता है और उस क्रोध में जैसा वह बिगड़ चाहता है किसी का उस बिगड़ के उपायों का मनन भी साथ चलता है इस कारण क्रोध करना सत्य व्रत को भंग कर देता है। सो सत्य व्रत की रक्षा करने वालों को क्रोध का त्याग करना चाहिए। लोभ प्रत्याख्यान—लोभ कषाय का त्याग करना लोभप्रत्याख्यान है। किसी भी बाह्य पदार्थों के लोभ में अथवा अपने आपके पर्याय की प्रसिद्धि आदिक के लोभ में ऐसा यह भाव उत्सुक होता है और उस लोभ संगति में बढ़ता है कि वह असत्य वचनों का प्रयोग करके भी लुभायें गए पदार्थों का संग्रह करना चाहता है। तो जो पुरुष लोभ रखता है उसका झूठ बोलना बहुत कुछ सम्भव है इस कारण सत्य व्रत की रक्षा करने के लिए लोभ परित्याग की भावना करना चाहिए। भीरुत्वप्रत्याख्यान याने डरपोकपने का त्याग कर देना, जो मनुष्य कायर होता है, जरा-जरासी घटनाओं में भयभीत होकर कायर बनता है तो वह अपनी कल्पित रक्षा के लिए किसी भी असत्य साधन का प्रयोग कर

सकता है, असत्य बोल सकता है। तो सत्य व्रत की रक्षा करने के लिए ऐसा ज्ञानबल बढ़ना चाहिए कि जिससे कायरता न रह सके। हास्यप्रत्याख्यान—हंसी का त्याग करना हास्यप्रत्याख्यान है। जो पुरुष दूसरों का उपहास करता है तो उस मजाक करने की प्रवृत्ति में अनेक बार असत्य बोलने के प्रसंग हो जाते हैं, अतः सत्य व्रत की रक्षा करने वाले को हास्य का परित्याग करना चाहिए। अनुवीचिभाषण—आगम के अनुकूल वचन बोलना अनुवीचिभाषण है। यहाँ शंकाकार कह सकता है कि फिर तो अशुभ क्रियावों वाले वचनों से भी बोलना अनुवीचिभाषण में आ जायेगा, उत्तर देते हैं कि नहीं। आगम के अनुसार बोलने का यहाँ भाव है कि व्रत आदिक शुभ प्रवृत्तियों के बारे में आगम के अनुसार बोलना, क्योंकि यह प्रकरण पुण्यास्रव का है। अप्रशस्त क्रियावों के बारे में अनुवीचिभाषण का अधिकार नहीं है अथवा अनुवीचिभाषण का अर्थ कीजिए—विचार करके भाषण देना, बिना विचारे जो शीघ्र भाषण कर देते हैं उनके असत्य बोलने के प्रकरण बन जाया करते हैं अतः सत्यव्रत की रक्षा करने के लिए अनुवीचिभाषण करना चाहिए। ये सत्यव्रत की ५ भावनायें हैं। अब तृतीय व्रत की भावनायें बताते हैं।

## सूत्र 7-6

**शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणमैक्ष्यशुद्धिसधर्माविसंवादाः पञ्च ॥ ७-६ ॥**

(१२७) अचौर्यव्रत की पांच भावनाओं का निर्देशन—अचौर्य व्रत की ५ भावनायें इस प्रकार है—(१) शून्यागारावास, (२) विमोचितावास, (३) परोपरोधाकरण, (४) मैक्ष्यशुद्धि और (५) सधर्माविसम्वाद। (१) सूने घर में रहना यह अचौर्यव्रत की प्रथम भावना है। पर्वत की गुफायें, वृक्षों की खोह आदिक स्थानों में रहने से वहाँ चोरी के आश्रयभूत बाह्य पदार्थों का प्रसंग न होने अचौर्य व्रत की स्थिति दृढ़ रहा करती है। इस कारण अचौर्य व्रत की रक्षा के लिए सूने आगारों में रहने की भावना व यथाबल प्रयोग करना चाहिए। (२) छोड़े हुए दूसरे के आवासों में जिनमें दूसरे कोई गृहस्थ रहते थे और रोग महामारी या अन्य उपद्रवों के कारण उस स्थान को बिल्कुल छोड़कर चले गए, एकदम वह सूना स्थान है तो ऐसे स्थानों में रहना यह अचौर्यव्रत की दूसरी भावना है। ऐसे स्थान में रहने पर चोरी के आश्रयभूत बाह्य पदार्थों का सम्बंध न होने से अचौर्य व्रत भली भांति पलता है, इस कारण अचौर्य व्रत की रक्षा के लिए यह दूसरी भावना कही गई है। (३) परोपरोधाकरण—दूसरे को निवास करने से रोकना नहीं, यह तृतीय भावना है। प्रथम बात तो यह है कि दूसरों को ठहराने से वही पुरुष रोक सकता है जिसके पास कुछ परिग्रह हो, द्वितीय बात यह है कि कुछ अपनी क्रिया में त्रुटि हो, सो वह अपनी त्रुटि छिपाने के लिए अथवा कोई कुछ चुरा न ले जाये इस भावना से दूसरे को मना करेगा। तो उसको ऐसी अपनी निःशल्य स्थिति रखना चाहिए कि दूसरे को मना करने का प्रसंग ही न करना पड़े। तब प्रवृत्ति यह रखना चाहिए कि जहाँ खुद ठहरे हैं वहाँ कोई भी साधर्मी आकर ठहरे, किसी को मना न करना, यह भावना अचौर्य व्रत की साधक है। (४) आचार शास्त्र के मार्ग के अनुसार भिक्षावृत्ति की शुद्धि रखना मैक्ष्यशुद्धि है। मार्गानुसार आहार करने वाले पुरुष के आहारविषयक चोरी की सम्भावना वह है अथवा अपने किसी बुरे परिणाम को करने और छुपाने की आवश्यकता नहीं होती, इससे मैक्ष्यशुद्धि अचौर्यवृत्ति की साधक है।

। (५) यह मेरा है, यह तुम्हारा है, ऐसा साधर्मी जनों के, साथ विसम्बाद न करना अचौर्य व्रत की साधक है । मेरा तेरा का भाव रखने में प्रथम तो उसमें ममता का भाव आया, संग्रह का भाव आया सो विशुद्धि की हानि हो गई और फिर मेरा तेरा कहने के प्रसंग में कभी कोई विवाद हो जाये कि दूसरे भी यह कहने लगे कि यह मेरा ही है, तुम्हारा नहीं है और वे कहे कि मेरा ही है, तो ऐसे प्रसंग में उस चीज के चुराने के उससे आँख बचाकर लेने की भावना बन जाया करती है, इस कारण अचौर्य व्रत की सिद्धि के लिए सधर्माविसम्बाद नामक भावना भी भाना व उसका प्रयोग करना चाहिये । ये अचौर्यव्रत की ५ भावनायें हैं । अब ब्रह्मचर्यव्रत की भावनाओं को कहते हैं—

## सूत्र 7-7

**स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरता-  
नुस्मरणवृष्ट्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागः, पञ्च ॥ ७-७ ॥**

(१२८) ब्रह्मचर्यव्रत की स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग व स्त्रीमनोहराङ्गनिरीक्षणत्याग एवं पूर्वरतानुस्मरणत्याग नाम की प्रथम, द्वितीय व तृतीय भावना—इस सूत्र में ब्रह्मचर्य व्रत की ५ भावनायें कही गई हैं—(१) स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग—स्त्रियों में राग उत्पन्न होना इस प्रकार के कथन के सुनने का त्याग करना, क्योंकि यदि स्त्रीरागविषयक कथन सुनते रहेंगे तो उसका मन मलिन होगा और कामविषयक कल्पनायें जगने लगेंगी और उस ही का मन कर-कर यह जीव मन से वचन से काय से ब्रह्मचर्य से च्युत हो सकता है । इस कारण ऐसी कथाओं के सुनने का त्याग करना आवश्यक ही है । सो उसका त्याग करना और त्याग की भावनायें निभाये रहना यह ब्रह्मचर्य व्रत की प्रथम भावना है । द्वितीय भावना है स्त्रीमनोहराङ्गनिरीक्षण त्याग । स्त्रियों के सुन्दर अंगों के निरखने का त्याग करना । कामसंस्कार वाले पुरुषों को जो स्त्रियों के अंग निरन्तर सुन्दर लगा करते हैं, हाथ, मुख, जंघा आदिक ऐसे किसी भी अंगों का निरीक्षण का भाव करता रहेगा और कुछ उस ओर प्रयत्न रहेगा तो इसका मन कलुषित होगा और उस भावना में रह रहकर यह शील व्रत से च्युत हो जायेगा । इस कारण मनोहर अङ्गों के निरीक्षण का त्याग अनिवार्य है, अंतः उस त्याग की भावना बनाये रहना, उसके विरुद्ध कल्पना न जगना सो यह ब्रह्मचर्यव्रत की दूसरी भावना है । ब्रह्मचर्यव्रत की तृतीय भावना है पूर्वरतानुस्मरण त्याग । पहले जो भोग भोगे उनके स्मरण का त्याग करना । यदि कोई पुरुष पहले भोगे हुए भोगों की याद करता है तो उस याद में उसे भोगविषयक वासना जग सकती है और उसका ही ख्याल कर, कल्पना कर यह उस ओर आसक्त होकर पुनः जो वर्तमान कोई संयोग प्राप्त हो उसके यत्न में, उसके भाव में यह ब्रह्मचर्य से च्युत हो सकता है । इस कारण पहले भोगे हुए भोगों के स्मरण का त्याग होना अनिवार्य है । वास्तविकता तो यह है कि जिनको आत्मज्ञान जगा है, जो संयम मार्ग में आगे बढ़े हैं उनके अंतस्तत्त्व की धुन रहने के कारण उस श्रमण निरीक्षण के स्मरण की ओर दृष्टि ही नहीं जाती । आत्मानुभव के प्रकरण से उन्हें फुरसत ही नहीं है खोटे भावों में आने की । और फिर भी कदाचित् चारित्रमोह के विपाकवश कुछ थोड़ी कल्पनासी जगे तो ज्ञानबल से उस कल्पना को वहीं तोड़ कर यह ज्ञानी अपने शील को सुरक्षित रखता है ।

(१२९) ब्रह्मचर्यव्रत की वृद्धेष्टरसत्याग व स्वशरीरसंस्कार त्याग नाम की चतुर्थ व पंचम भावना—ब्रह्मचर्यव्रत की चतुर्थ भावना है वृद्धेष्टरस त्याग याने वृद्ध इष्ट रस का त्याग करना। जो रस भोजन कामोत्तेजन हो, रसना इन्द्रिय को प्रिय हो, ऐसे रस का परित्याग करना। यदि कामोत्तेजक औषधियाँ भस्म रस आदिक का सेवन रहा तो उससे शरीर में उत्तेजना होगी और तदनुरूप वासना उभरने लगेगी, जिसके कारण यह शील से च्युत हो सकता है। और जो शील से च्युत हुआ उसका मन मलीमस हो जाने से फिर वह मोक्षमार्ग का पात्र नहीं रहता। तो इस कारण कामोत्तेजक इष्ट रस का त्याग करना अनिवार्य है और उसकी भावना बनाये रखना कर्तव्य है। ब्रह्मचर्यव्रत की ५वीं भावना है स्वशरीरसंस्कार त्याग। अपने शरीर के संस्कार का त्याग करना। जो पुरुष शरीर के संस्कार पर दृष्टि करता है, संस्कार करता है उस पुरुष के पर्यायबुद्धि है। शरीर को अपना माना, आपा समझा तब ही तो शरीर के संस्कार पर इसका उपयोग गया है। सो जिसको शरीर में आत्मबुद्धि है, शरीर के संस्कार में लगा है तो उसके कामवासना भी उभरने लगती है और वहाँ यह संस्कार करने वाला तो भावों में मलीमस होता ही, पर अन्य पुरुष स्त्रीजन जो इस ही वासना के विचार के हों वे इसके शरीर को संस्कृत सुथरा देखकर आकर्षित होने लगते हैं। परिणाम यह होता है कि संस्कार करने वाला यह पुरुष शील व्रत से पतित हो जाता है। इस कारण हिताभिलाषी पुरुषों को अपने शरीर के संस्कार का त्याग करना योग्य है, अतः इसकी भावना बनाये रखते जिससे कि कभी दुराचारभाव का अवसर न आये। यह मोक्षार्थी का कर्तव्य है इस प्रकार ब्रह्मचर्यव्रत की ५ भावनायें कहीं।

## सूत्र 7-8

मनोज्ञाऽमनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पंच॥७-८॥

(१३०) परिग्रहविरतिनामक व्रत की पांच भावनायें—इस सूत्र में परिग्रह त्याग व्रत की भावनायें कहीं गई हैं। ५ इन्द्रिय के विषय तो परिग्रह हैं। यदि कोई धन वैभव का संग्रह करता है तो वह इन विषयों के साधनों के प्रयोजन से ही तो करता है। साथ ही मन भी अपने विषयों में लगा रहता है, तो चूंकि विषयों की साधना ही खुद परिग्रह है और विषयसाधना के लिए ही चेतन अचेतन परिग्रह जोड़े जाते हैं, सो परिग्रहत्याग व्रत को ठीक रखने के लिए इन्द्रियविषयों का त्याग करना, उनमें रागद्वेष न करना यह आवश्यक हो जाता है। सो जो इन्द्रियविषय मनोज्ञ हों, इष्ट हों उनमें राग का त्याग करना और जो इन्द्रियविषय अमनोज्ञ हों, इष्ट हो, अनिष्ट हों उनमें द्वेष का त्याग करना ये परिग्रहत्याग की ५ भावनायें हैं। कदाचित् ऐसा इष्ट अनिष्ट विषय न चाहते हुए भी सामने उपस्थित हो जाये और वहाँ इन विषयों की ओर यह चित्त देने लगे तो वह इन विषयों को सुखकारी समझकर उनकी ओर आकर्षित होगा और आकिंचन्यव्रत भंग हो जायेगा। परिग्रहत्याग आकिंचन्यव्रत ही तो है, सो आकिंचन्यव्रत को स्थिर रखने के लिए विषयों में रागद्वेष न करने की भावना बनाये रहना मोक्षार्थी का कर्तव्य है। यहाँ इन ५ व्रतों की वृद्धता के लिए भावनायें बतायी गई हैं। तो अब इन भावनाओं की पुष्टि के लिए विरुद्ध बातों का क्या फल होता है, यह बताने के सूत्र कहते हैं।

## सूत्र 7-9

**हिंसादिव्विहामुत्रापायावद्यर्दर्शनम् ॥ ७-९ ॥**

(१३१) हिंसा झूठ चोरी पाप से उभयलोक में होने वाले अपाय का चिन्तन—हिंसा आदिक पापों में इस लोक में अन्याय देखा जाता है। अनेक प्रकार की आपत्तियां विघात देखी जाती हैं, और परलोक में इन पापों का कटुक फल मिला करता है। इस प्रकार हिंसा आदिक पापों की दुष्टता का दर्शन करना यह पंचब्रतों की भावना को दृढ़ करने वाली भावना है। अपाय का अर्थ है स्वर्ग और मोक्ष पदार्थ का उनकी क्रियाओं के साधनों का नाश करना अपाय है। अथवा इस लोक सम्बन्धी ७ प्रकार का भय हो जाना अपाय है। अवध्य निन्द्यतत्त्व को कहते हैं। हिंसा आदिक पापों के करने से जो वह हिंसक है वह सदैव उद्वेग में रहा करता है और हिंसक का वह सदैव बैरी रहा करता है। सो यह हिंसक यहाँ ही बंधनक्लेशादिक को प्राप्त करता है और पापकर्म बंध के कारण उनके उदय में यह अशुभगति को प्राप्त करता है हिंसक लोक में निन्द्यनीय भी होता है। इस कारण हिंसा से विरक्त रहना ही श्रेष्ठ है। झूठ बोलने वाला पुरुष लोगों की श्रद्धा से गिर जाता है, फिर लोग उससे कुछ भी सम्बंध करना नहीं चाहते। झूठ बोलने वाला पुरुष इस लोक में भी अनेक प्रकार के दंड पाता है। प्रजा द्वारा, सरकार द्वारा उसकी जिहा छेद दी जाये, आदिक अनेक प्रकार के दण्ड दिए जाते हैं। जिनके सम्बंध में वह पुरुष झूठ बोलता है वे-वे सब इसके बैरी हो जाते हैं। तो जो बैरी हो गए वे इस पर अनेक आपत्तियाँ ढाते हैं। सो असत्यवादी इस लोक में भी बहुत दुःख प्राप्त करता है और मरकर अशुभ गति में जाता है। इस कारण असत्य बोलने से विरक्त रहना ही चाहिए। चोरी करने वाले पुरुष का सब लोग तिरस्कार करते हैं, उसे निकट भी नहीं बैठने देते। चोर पुरुष इस ही लोक में अनेक प्रकार के दंडों को भोगते हैं। जैसे जनता के लोग या सरकारी कर्मचारी उसे मारते पीटते हैं, उसे बांधते हैं, गिरफ्तार करते हैं, रस्सियों से बांधकर डाल देते हैं; हाथ, पैर, कान, नाक आदिक छेद डालते हैं और उनके पास जो कुछ भी सम्पदा हो वह सब छुड़ा ली जाती है। चोर पुरुष इस लोक में दण्डों को भोगता है और मरकर अशुभगति में जाता है। लोक में वह बहुत निन्द्य होता है, इस कारण चोरी पाप से विरक्त होना ही कल्याणकारी है।

(१३२) कुशील और परिग्रह पाप से उभयलोक में होने वाले अपाय का चिन्तन—जो पुरुष कुशील का सेवन करते हैं वे हमेशा काम के साधनों के वश रहा करते हैं और मदोन्मत्त हाथी की तरह काम साधनों के पीछे घूमते फिरते हैं। कुशील पुरुषों को लोग पीटते हैं बध करते हैं, बांधते हैं, अनेक प्रकार के कष्ट दिया करते हैं। जैसे कामासक्त पुरुष मोह से दब जाने के कारण कर्तव्य और अकर्तव्य के विवेक से रहित हो जाते हैं और ये किसी भी शुभ कर्म क्रिया के करने लायक नहीं रहते। परस्तीगामी पुरुषों पर यहाँ के लोग बड़ी आपत्तियां डालते हैं और उनके कामसाधनभूत अंगों को छेद डालते हैं और उनका सर्वस्व वैभव हरण कर लिया जाता है। सो कुशील पुरुष इस लोक में भी बहुत आपत्ति पाते हैं और मरकर अशुभ गति में जाते हैं, लोगों के द्वारा वे नित्य रहते हैं। इस कारण कुशील नामक पाप से विरक्त होना ही कल्याणकारी है। जो पुरुष परिग्रह की तृष्णा में बढ़े चले जा रहे हैं वे पुरुष अन्य पुरुषों के द्वारा अनेक प्रकार से झपटे जाते हैं। जैसे कि किसी

पक्षी की चोंच में पंजों में मांसपिण्ड पड़ा हो तो अन्य पक्षी उस पक्षी पर झटपटा करते हैं, ऐसे ही परिग्रहवान पुरुष पर अन्य लोग चोर, डाकू, राजा आदि सब झटपटा करते हैं। परिग्रही पुरुष बड़े विकल्प में रहकर अपने मन को व्यथित करता रहता है, वह चोरों के द्वारा तिरस्कृत होता है। अनेक डाकू उसका धन भी हर लेते हैं और उसके प्राणों का भी घात कर डालते हैं। परिग्रह के उपार्जन में अनेक संकलेश और आपत्तियां हैं और परिग्रह जुड़ भी जाये तो उसकी रक्षा करने में अनेक आपत्तियां हैं, संकलेश हैं और कदाचित् रक्षा करते हुए भी उसका विनाश हो जाये तो उसमें संकलेश भोगना पड़ता है। परिग्रह की लालसा वाले पुरुषों को जीवन में कभी तृप्ति हो नहीं पाती। जैसे कि अग्नि को ईधन से तृप्ति नहीं हो सकती अग्नि बढ़ती ही चली जायेगी ऐसे ही परिग्रह से इस जीव को कभी तृप्ति हो ही नहीं सकती। वे लालसा की अग्नि से जलते ही चले जायेंगे। परिग्रह का इच्छुक लोभ के वशीभूत है, सो वह कर्तव्य अकर्तव्य कुछ भी नहीं गिनता, सो वह इस लोक में ही अनेक बाधाओं को प्राप्त करता है और मरकर अशुभगति में जन्म लेता है। यह लोभी है, यह कृपण है आदिक रूप से लोक में निन्द्य होता है, इस कारण परिग्रह से विरक्त होना ही लाभप्रद है। इस प्रकार हिंसा आदिक पापों में विद्यात और अवद्य का देखना ५ व्रतों की स्थिरता के लिए आवश्यक कर्तव्य है। अब हिंसा आदिक पापों में अन्य प्रकार की भावनायें बताने के लिए सूत्र कहते हैं।

## सूत्र 7-10

दुःखमेव वा ॥ ७—१० ॥

(१३३) हिंसादि समस्त पापों की दुःखकारणता व दुःखरूपता—हिंसा आदिक पापों के सम्बन्ध में यह भावना और ध्यान रखनी चाहिये कि हिंसा आदिक पाप दुःखस्वरूप हैं। यहाँ एक शंका हो सकती है कि दुःख तो असातावेदनीय के उदय से होने वाला संताप परिणाम है और हिंसा आदिक क्रिया विशेष है, उनको दुःख ही कैसे कह दिया गया? दुःख करने वाला है, दुःख के कारण है, इन शब्दों से कहते तब तो उचित था पर यह स्वयं दुःख ही है, यह कैसे कहा गया है? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि यहाँ कारण में कार्य का उपचार करके सुगम बोध के लिए इस प्रकार कहा गया है। जैसे लोक में कहते हैं कि अन्न ही प्राण है तो प्राण तो जुदी चीज है, अन्न जुदी चीज है, किन्तु यदि अन्न न खाया, भोजन त्याग कर दे या न मिले तो ये प्राण नहीं टिक सकते। तो प्राण टिकने के कारणभूत हैं अन्नादिक सेवन, तो प्राण के कारणभूत अन्न में प्राण का जैसे उपचार किया जाता है इसी प्रकार दुःख के कारणभूत हिंसा आदिक में ये पाप दुःख ही हैं, इस प्रकार का उपचार किया गया समझना, अथवा कभी-कभी तो कारण के कारण में भी कार्य का उपचार होता है। जैसे प्राण का कारण तो अन्नपान है और भी भोजनादिक अन्न आदिक कैसे लाये जाये तो उसका उपाय है पैसा। तो कभी ऐसा भी कहा जाता कि यह पैसा ही प्राण है, तब ही तो कोई पुरुष धन हर ले तो कहा करते हैं कि वह उसका प्राण हरता है। तो तीसरी बात यह है कि हिंसा आदिक पाप असातावेदनीय कर्मबन्ध का कारणभूत है और असातावेदनीय कर्म दुःख का कारणभूत हैं। तो दुःख के कारण के कारण का दुःख का उपचार किया गया है। दुःख के कारण हैं असातावेदनीय कर्मविपाक और असातावेदनीय के बन्ध का कारण है हिंसा आदिक

पाप, ये दुःख ही हैं, ऐसा उपचार किया गया है।

(१३४) पापविरक्त संतों का चिन्तन—पापों से विरक्त रहने वाले जनों का ऐसा चिन्तन होता है कि जैसे बधीड़ा मेरे को अप्रिय है उसी प्रकार सर्व प्राणियों को बधीड़ा अप्रिय होती है। जैसे उसके विषय में कोई मिथ्या बात कही, कटुक वचन बोला तो उनको सुनकर जैसे मेरे को अत्यन्त तीव्र दुःख होता है ऐसे ही खोटे वचनों से सर्व जीवों को दुःख पहुंचता है और जैसे मेरे इष्ट द्रव्य का वियोग हो जाये, कोई मेरी चीज चुरा ले जाये तो बड़ी तकलीफ होती है इसी प्रकार दूसरों का द्रव्य हरा जाने से उन्हें अत्यन्त कष्ट होता है। और जैसे मेरे स्त्रीजनों का तिरस्कार होने पर तीव्र मानसिक पीड़ा होती है उसी प्रकार अन्य जनों को भी इस कुशील के प्रसंग में पीड़ा होती है और जैसे मेरा परिग्रह नष्ट हो जाये या प्रयत्न करने पर भी प्राप्त न हो तो उसकी इच्छा रखने से और शोक से दुःख उत्पन्न होता है इसी प्रकार सर्व प्राणियों को दुःख होता है। ऐसी भावना करके अपने समान दूसरों का दुःख विचारकर हिंसा आदिक पापों से विरक्त रहना ही चाहिए।

(१३५) वैषयिक सुखों की दुःखरूपता—यहां शंकाकार कहता है कि हिंसा आदिक पापों को दुःख रूप ही बताया जा रहा है, सो यह एकान्त से कहना ठीक नहीं लग रहा, क्योंकि मैथुन प्रसंग में अर्थात् अब्रह्मचर्य नामक पाप में स्पर्शकृत सुख पाया जाता है। जैसे किसी श्रेष्ठ स्त्री के कोमल शरीर के संस्पर्श से रति का सुख होता है तब हिंसादिक दुःख ही है, यह बात तो न बनी। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि अब्रह्मचर्य में सुख रूप वृत्ति नहीं है किन्तु वह तो वेदना का इलाज है। जैसे दाद खाज हो जाने पर उस दाद खाज से पीड़ित हुआ पुरुष नख से पथरी आदिक से अपना शरीर खुजाता है और उस समय खून से गीला हो जाता है तो उस समय दाद खाज मिट तो नहीं रहा, उस समय दुःख भी होता है लेकिन यह खुजैला उसमें सुख मानता है। इस प्रकार मैथुन को भोगने वाला मोही प्राणी अपने अज्ञान से दुःखरूप वृत्ति को भी सुख ही मानता अथवा है उसकी कल्पना से भले ही उस समय सुख माना जा रहा हो, पर वह दुःख का कारण है। इस कारण वह अब्रह्म दुःख ही है, ऐसी भावना रखनी चाहिए। अब बताते हैं कि जैसे ये क्रिया विशेष जो ५-५ भावनायें कही गईं वे वृत्तियां यदि शुद्ध लक्ष्य से भाई जाये तो व्रत की पूर्णता को करती हैं, उसी प्रकार अगले सूत्र में कही जाने वाली भावनायें इस लोक और परलोक के लौकिक प्रयोजन के बिना भायी जाये तो ये भी व्रत की समृद्धि को करते हैं। तो वे कौनसी भावनायें हैं उसके लिए सूत्र कहते हैं।

## सूत्र 7-11

**मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु ॥ ७-११ ॥**

(१३६) मैत्री प्रमोद कारुण्य व माध्यस्थ्यभावना का व्रत की परिपूर्णता में सहयोग—सर्व जीवों में मैत्री भाव होना, अपने से गुणाधिक पुरुषों में प्रमोदभाव होना, दुःखी जीवों में करुणा भाव होना और अविनेय, उद्दण्ड पुरुषों में मध्यस्थ्यभाव होना यह भावना व्रत सम्पत्ति को समृद्ध करती है। मैत्री का अर्थ है अपने शरीर, मन वचन के द्वारा करने, कराने, अनुमोदने के द्वारा दूसरों के दुःख की अनुत्पत्ति की अभिलाषा होना, स्नेह का भाव होना सो मंत्री भावना है। किसी भी जीव को दुःख उत्पन्न न हो ऐसी भावना को मैत्री कहते हैं। मैत्री भावना

वाला जीव न दुःख की उत्पत्ति का उपाय करता है, न करता है, न करते हुए को अनुमोदता है। मन, वचन, काय से गुणित कृतकारित अनुमोदना, इस प्रकार नवकोटि से सभी जीवों के दुःख की अनुत्पत्ति विचारना सो मैत्री भावना है। प्रमोद भावना—अपने मुख की प्रसन्नता द्वारा नेत्रों के हर्षण द्वारा शरीर में रोमांच होना, इस प्रकार की प्रवृत्ति से और स्तुति करना, निरन्तर नाम लेना, गुण बखानना आदिक प्रवृत्तियों से जो भक्ति प्रकट की जाती है उसका नाम प्रमोद है। प्रमोद शब्द में प्र और मोद ऐसे दो शब्दों का समास है। प्रकर्ष रूप से हर्ष होना, जो रत्नत्रयधारी हैं, ज्ञान में बड़े हैं, शान्ति क्षमा में बड़े हैं, ऐसे पुरुषों को देखकर ऐसा अन्तरंग में हर्ष होना कि जिससे मुख पर प्रसन्नता भी स्वयं बनती है, रोमांच हो जाता है, ऐसी भीतरी भक्ति को प्रमोदभावना कहते हैं। कारुण्यभावना—जो जीव दुःखी हैं, दीन हैं, शारीरिक मानसिक दुःख से पीड़ित हैं, ऐसे दीन पुरुषों का अनुग्रहरूप परिणाम होना सो कारुण्य है। कारुण्य शब्द करुण से बना है। करुणस्य भाव कारुण्यं। करुण कहते हैं कोमल पुरुष को, दयाशील हृदय वाले पुरुष को। उसके परिणाम का नाम कारुण्य है। माध्यस्थ का अर्थ। है मध्य में रहना अर्थात् रागद्वेष पूर्वक पक्षपात न होना। किसी के पक्ष में कोई पड़ा है राग से या द्वेष से याने किसी से प्रीति विशेष है तो वह उसके पक्ष में आ जाता है और किसी से द्वेष बनता है तो उससे भी जो द्वेष रखता हो उसके पक्ष में आ जाता है। तो किसी के पक्ष में पड़ने का नाम पक्षपात है। जहाँ पक्षपात नहीं होता वहाँ वह बीच में ठहरा है यों कहा जाता है। मध्ये तिष्ठति इति मध्यस्थः तस्य भावः माध्यस्थयं। रागद्वेष न करके उपेक्षाभाव से रहना माध्यस्थभाव है।

(१३७) भावनाओं के आश्रय व आलम्बनों का दिग्दर्शन—ये चार भावना में किन के प्रति की जानी चाहिएँ इसका उत्तर इस सूत्र के तृतीयपद में है। सत्त्व, गुणाधिक, क्लिश्यमान और अविनेय। सत्त्व का अर्थ है चारों गतियों के संसारी प्राणी। सत्त्व शब्द सिद्ध धातु से बना है जिसका अर्थ दुःख पाना है। अनादि परम्परा से चले आये हुए ८ प्रकार के कर्मों की बंध संतति से जो तीव्र दुःख वाली योनियों में, चारों गतियों में दुःख पाते हैं उन्हें सत्त्व कहते हैं। सत्त्व का अर्थ हुआ संसार के दीन दुःखी सभी प्राणी—उनमें मैत्री भावना की जाती है। गुणाधिक का अर्थ है जो गुणों में अधिक हो। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सम्यक्त्व आदिक गुण हैं। यहाँ गुण के मायने द्रव्य, गुण पर्याय में कहा हुआ गुण नहीं, शक्ति नहीं। किन्तु जो सदाचार श्रद्धा ज्ञान आदि भली भांति है वे गुण हैं, उन गुणों से जो बड़े चढ़े हुए हैं उन पुरुषों को गुणाधिक कहते हैं, गुणाधिक पुरुषों में प्रमोदभाव करना व्रत की निर्दोषता में साधक है। क्लिश्यमान अर्थात् दुःखी, असातावेदनीय के उदय से जिन्हें शारीरिक मानसिक दुःख प्राप्त हुए हैं और उस दुःख के संताप से जो कष्ट पा रहे हैं उन्हें क्लिश्यमान कहते हैं। क्लिश्यमान जीवों में कारुण्यभावना कही गई है अविनेय—जो विनेय नहीं हैं, सुपात्र नहीं हैं उन्हें अविनेय कहते हैं। तत्वार्थ के उपदेशों का सुनना और उन उपदेशों को ग्रहण करना—इन दो वृत्तियों के द्वारा जो पात्ररूप किया जाता है, विनीत किया जाता है उन्हें विनेय कहते हैं। जो विनेय नहीं हैं उन्हें अविनेय कहते हैं। अविनेय का अर्थ है दुराचारी, उद्दण्ड, दुष्ट, प्रकृति वाला, ऐसे पुरुषों में मध्यस्थभाव करना बताया है।

(१३८) चारों भावनाओं में चिन्तन की मुद्रा की रेखा—मैत्री भावना में ऐसा चिंतन चलता है कि मैं सर्व जीवों को दुःखी करता हूँ, सर्व जीवों से क्षमा चाहता हूँ, मेरी प्रीति सर्व प्राणियों के साथ है। किसी के भी साथ मेरा

बैर मत हो । इस तरह का चिन्तन स्व और अन्य जीवों के स्वरूप का लक्ष्य करके ज्ञानियों के हुआ करता है । इस प्रकार की मैत्री सर्व प्राणियों में मानना चाहिए । दूसरी भावना—जो सम्यज्ञान से अधिक है, निर्दोष सम्यक्त्वपालन है, जिनका उपयोग स्वच्छ है, रागद्वेष वृत्ति से रहित समतापरिणाम वाले हैं ऐसे पुरुषों के प्रति वंदना करना, स्तुति करना, उनकी सेवा करना आदिक प्रवृत्तियों से प्रमोदभाव बनाना चाहिए । जो पुरुष कष्ट पा रहे हैं, मोह से दबे हुए हैं, कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, कुअवधिज्ञान से घिरे हुए हैं और विषयों की तृष्णा की अग्नि से जिनका मन चलित हो रहा है, जिनकी प्रवृत्ति विपरीत हो रही, हित कार्यों से हटे हुए हैं, अहित कार्यों में जुटे हुए हैं, नाना प्रकार के दुःखों से घिरे हुए हैं, ऐसे दीन पुरुषों में, कृपण पुरुषों में, अनाथ में, बालक में, वृद्ध में अनुकम्पाभाव जगना—ऐसी करुणा की भावना होनी चाहिए । जो पुरुष ऐसे अपात्र हैं कि जो उपदेश ग्रहण कर नहीं सकते, भली बात को हृदय में धार नहीं सकते, ज्ञान की बात सुनना भी पसंद नहीं करते, जिनमें सही तर्क वितर्क की योग्यता ही नहीं है, महान मोह से तिरस्कृत हैं, विरुद्ध प्रवृत्तियां करते रहते हैं, ऐसे प्राणियों में माध्यस्थ्यभावना रखनी चाहिए, क्योंकि ऐसे जीवों में हित का उपदेश भी सफल नहीं होता । ऐसे इन चार भावनाओं द्वारा अहिंसा व्रत की परिपूर्णता होती है । अब यह जिज्ञासा होती है कि व्रतों की परिपूर्णता के लिए जो भावनायें बतायी गई हैं, क्या मुमुक्षु महाब्रतधारी पुरुषों को उतनी ही भावनायें करना चाहिएँ या कुछ और भी उनके योग्य चिंतन है? उसके उत्तर में सूत्र कहते हैं।

## सूत्र 7-12

जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥७-१२॥

(१३९) संवेग व वैराग्य की वृद्धि के लिये जगत और काय के स्वभाव का चिन्तन—संवेग और वैराग्य की वृद्धि के लिए संसार और शरीर के स्वभाव का चिन्तन करना चाहिए । जगत के मायने यह सर्व दृश्यमान वैभव संचेतन अथवा अचेतन । शरीर-शरीर को ही कहते हैं । इसका स्वभाव अर्थात् इसकी जो तारीफ है जिस रूप से । जगत और शरीर बर्तते हैं, वह उनका स्वभाव है । सो संसार और संसार का स्वभाव संवेग और वैराग्य के लिए चिन्तन करना चाहिए । संवेग का अर्थ है संसार से भय रखना । भय का अर्थ क्या? कि संसार दुःखमय है इस कारण संसार में लगना योग्य नहीं है, उससे हटना ही श्रेयस्कर है, ऐसे भाव सहित संसार से अलग होने का यत्न करना यहीं संवेग कहलाता है । विराग कहते हैं विषयों से विरक्त होने को । चारित्रमोह का उदय न हो, चाहे चारित्रमोह का उपशम हो, क्षय हो या क्षयोपशम हो, किसी भी स्थिति में चारित्रमोह का विपाक न हो तो उस समय जो स्पर्श, रस, गंध, वर्ण शब्द से राग हटता है उसको विराग कहते हैं । विराग के भाव को वैराग्य कहते हैं । किस प्रकार जगत काय का स्वभाव विचारा जाता है? १-संसार का स्वभाव—यह लोक इस परिणमते हुए द्रव्यों का समुदाय है । जो सभी द्रव्य अनादि काल से अवस्था बदलते जा रहे हैं इस कारण आदि वाले हैं और इनकी सत्ता किसी ने नहीं बनायी है । ऐसा यह अनादि है । यों नित्यानित्यात्मक द्रव्य का समुदाय यह लोक है । इस लोक में जीव चारों गतियों में नाना तरह के दुःखों को भोग-भोगकर परिभ्रमण कर रहे हैं । इस लोक में कुछ भी वस्तु नियत नहीं है । यह जीवन जल के बुद्बुदे के समान क्षणभंगुर है । यह

भोग समुदाय बिजली की तरह क्षणस्थायी है या मेघ आदिक का जो आकार प्रकार बनता है उसकी तरह अत्यन्त चंचल है। इस शरीर में लगाव रखने से आत्मा का हित नहीं है, ऐसा ध्यान करना सो सम्बेद की वृद्धि का कारण है। शरीर के स्वभाव का यों चिन्तन करना कि यह शरीर अनित्य है, यह नियम से बिखरेगा, नष्ट होगा और यह शरीर ही दुःख का हेतु है, क्योंकि वेदनायें, इष्ट कल्पनायें, शारीरिक मानसिक सभी प्रकार के कष्ट इस शरीर के सम्बन्ध से होते हैं। यह शरीर सारहीन है, अपवित्र है, ऐसी शरीर के प्रति, भावना करने से वैराग्य जगता है और जहाँ संवेद और वैराग्य भाव जगता है वही धर्म में बहुत आदर होता है। धार्मिक पुरुषों की संगति रुचती है, मन में विशुद्ध प्रसन्नता रहती है, आरम्भ परिग्रह में दोष देखने के कारण विरति परिणाम रहते हैं। उत्तरोत्तर आगे गुणों का विकास होता है। गुणविकास में मोक्षमार्ग में श्रद्धा बढ़ती है, ऐसी इन भावनाओं से जिसका चित्त भरा हुआ है वह पुरुष ब्रतों के पालन करने में दृढ़ होता है।

(१४०) स्याद्वादशासन में भावनाओं की सफलता का सयुक्तिक कथन—यहाँ एक बात यह जानना कि ब्रतों की पुष्टि के लिए जितनी भावनायें कही गई हैं वे भावनायें तब ही बन सकती हैं जब कि सर्व पदार्थ नित्यानित्यात्मक हों। सो ऐसा है ही। यदि पदार्थ सर्वथा नित्य हो तो वहाँ कोई परिणति ही नहीं सम्भव है। फिर भावनायें कैसे बनेंगी? भावनायें करने वाले जीव को कोई सर्वथा नित्य अपरिणामी, जिसका कुछ बदल परिणमन हो ही नहीं सकता है कूटस्थ ध्रुव माने तो वहाँ कुछ परिणति ही न बनेगी तो भावना कैसे जगेगी? और यदि आत्मा में विक्रिया मानते हैं अर्थात् परिणमन, बदल भाव होना मानते हैं तो वह आत्मा एकान्ततः नित्य तो न रहा, इसी प्रकार यदि आत्मा को सर्वथा अनित्य माना जाये तो अब यह आत्मा अनेक समयों में तो रहा नहीं। क्षणिक का अर्थ है—एक क्षण को सत्ता है, आगे सत्ता नहीं है। तो जब अनेक क्षणों में न रह सका कोई वस्तु यह आत्मा तो अनेक पदार्थों के विषय में एक ज्ञान होना तो सम्भव नहीं है। जब क्षण-क्षण में नये-नये ज्ञान अथवा आत्मा बन रहे तो कोई भी आत्मा पहले के समयों के पदार्थों का स्मरण नहीं कर सकता, और जब कुछ स्मरण नहीं हो सकता आगे पीछे का तो वहाँ भावना भी नहीं बन सकती। सो सर्वथा नित्यवादियों के यहाँ भावना साधना नहीं बन सकती ऐसे ही सर्वथा अनित्यवादियों के यहाँ साधना नहीं बन सकती, किन्तु स्याद्वाद शासन मानने वाले के साधना भावना सब बनती है। स्याद्वाद शासन में द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से पदार्थ नित्य है तब अन्तरंग बहिरंग कारण के वश से उसमें उत्पादव्यय भी निरन्तर होता रहता है इस कारण अनित्य है। तो उत्पादव्ययधौव्य से युक्त आत्मा में स्मरण बन सकता है और परिणति बन सकती है और इस प्रकार भावना, साधना किया जाना सिद्ध होता है। इस सम्बन्ध में अपने आपके प्रति ऐसा निरखना चाहिए कि यह मैं आत्मा अनादि से अनन्त काल तक रहने वाला एक चैतन्य पदार्थ हूँ। चूंकि जो भी सत् है, सबका स्वरूप है उत्पादव्यय होना और उत्पादव्यय होकर भी सत्ता बनी रहना, सो मैं सदा रहूँगा, पर जैसी परिणति करूँगा वैसा ही फल भोगूँगा। इससे स्वभाव के अनुरूप मेरी परिणति बने तो उसमें मेरा कल्याण है और स्वभाव के विरुद्ध मेरा परिणमन चले तो उसका फल चारों गतियों में जन्म मरण करके दुःख पाते रहना है। इससे पदार्थों का यथार्थ स्वरूप जानकर उनसे मोह हटाना और अपने आपके ज्ञानानन्द स्वरूप में उपयोग का मन करना—यह कल्याणार्थी का कर्तव्य है। इस अध्याय में प्रथम सूत्र में बताया गया है कि हिंसा आदिक

पापों से निवृत्त होना ब्रत है, तो हिंसा आदिक क्या कहलाते हैं? वह कौनसी क्रिया विशेष है, उनका जानना तो बहुत आवश्यक है ताकि उन परिणामों से विरत होने का प्रयोग परीक्षण हो सके। सो उस विषय में चूंकि एक साथ सबको नहीं कहा जा सकता तो सूत्र में जिसका प्रथम निर्देश है उस निर्देश माफिक सबसे पहले हिंसा का लक्षण कहते हैं।

## सूत्र 7-13

**प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥७-१३॥**

(१४१) प्रमत्तयोग से प्राणव्यपरोपण की हिंसारूपता—कषाय सहित योग से प्राण का घात हो जाना हिंसा कहलाती है। प्रमत्तभाव किसका नाम है? इन्द्रिय के प्रचार विशेष को न निरखकर जो परिणति होती है वह प्रमत्तभाव है। जिसमें विषयों को प्रीति है, लगाव है, स्वार्थ है, कषायभाव है ऐसा लौकिक प्रयोजन जहाँ बसा हुआ है, खुदगर्जी है ऐसे खोटे परिणामों के साथ जो प्राण विपरोहण होता है अर्थात् प्राणों का घात होता है उसका नाम हिंसा है अथवा यही प्रमत्त शब्द में यह लगाकर अर्थ करना। प्रमत्त की तरह योग से प्राण का घात करना हिंसा है। किस तरह कि जैसे मद्य पीने कला पुरुष जब उसका मदायलापन बढ़ जाता है तो यह कर्तव्य है, यह नहीं है कर्तव्य, यह बोलना चाहिए, यह न बोलना चाहिए इस विचार से वह हट जाता है। उसे कहते हैं प्रमत्त। तो ऐसे ही जिसको जीवस्थानों का पता नहीं, योनियों का पता नहीं, जीव कहाँ पैदा होते हैं, किस प्रकार के होते हैं, किन-किन आश्रयों में रहा करते हैं इसे जो नहीं जानता और कषाय का है उसके उदय, विषयों में है उसकी लगन, खुदगर्जी में वह बस रहा है तो हिंसा के कारणों में लग जाता है जिससे कि प्राणों का घात होता है। तो वह अहिंसा में प्रवृत्ति नहीं कर पाता, उसी का नाम प्रमत्त है, याने अज्ञानी और कषायवान जीव को प्रमत्त कहते हैं।

(१४२) प्रमादविशेषों का वर्णन—प्रमाद १५ प्रकार के कहे गए हैं। उन भावों से जो च्युत हो उसे प्रमत्त कहते हैं। वे १५ प्रमाद कौन से हैं? चार विकथायें—१-स्त्रीकथा, २-राजकथा, ३-देशकथा और ४-भोजनकथा। स्त्रीविषयक चर्चा कहनी कहना सुनना यह स्त्रीकथा का प्रमाद है, क्योंकि स्त्रीविषयक कैसी भी चर्चा करने से थोड़ा राग का भाव आता है और उससे प्रमाद होता है, कषाय बढ़ती है। राजकथा—राजा की कथा करना, अमुक राजा ऐसा है अमुक ऐसा है, अरे क्या प्रयोजन पड़ा है राजाओं की चर्चा करने का? बल्कि उससे तो लौकिकता में गति बढ़ जाती है। देशकथा—देशों की कथा करना, अमुक देश में यह है अमुक यों है, यों देशों की बात करना देशकथा है। ये सब करना चाहिए या नहीं, इसके तो उत्तर लोगों के चित्त में भिन्न-भिन्न गुणों के अनुसार अनेक होंगे, किन्तु मोक्षमार्ग में जहाँ संसार से छुटकारा पाकर मुक्ति पाने का पौरुष सोचा है। वहाँ तो किसी भी प्रकार के कषाय पर का लगाव रखना कर्तव्य नहीं है। तो ये सब प्रमाद करना योग्य नहीं है, भोजनकथा—इस प्रकार का भोजन बना, उसका स्वाद अच्छा है आदिक भोजन की कथा करना, मैंने अच्छा खाया, कल यों खाऊँगा, यह चीज बनाऊँगा, तो इस भोजनकथा में प्रमाद होता है, कषाय जगती है। भोजन किया जाता है शरीर की स्थिति रखने के लिए। इतना ही यदि भाव है तो भोजन करते हुए भी वह भोजन

नहीं कर रहा । घाटी नीचे माटी । उस स्वाद का क्या उठता है? बल्कि स्वाद के वश होकर अपथ्य भोजन हो जाता है । तो भोजनकथा प्रमाद है । चार कषाय प्रमाद हैं—१-कोध, २-मान, २-माया, ४-लोभ । ये जीव के स्वभाव नहीं हैं, यह कर्म के उदय की झाँकी है । और कर्मछाया जो कि इस जीव की भूमिका पर पड़ी है यह उसमें व्यामुग्ध हो जाता है और कषाय से भिन्न अपने को नहीं समझ पाता । कषाय प्रमाद है । ५ इन्द्रिय के विषय—स्पर्शनइन्द्रिय के विषय में अनुरागी होना, किसी का कोमल शरीर छूने का भाव होना, रसना के विषय को भोगने का भाव होना, ग्राण, चक्षु, कर्ण विषय के भोगने के भाव, यह इन्द्रिय के वश होना है और निद्रा स्नेह ये दो प्रमाद और हैं, नींद आना आलस्य आना यह प्रमाद है और स्नेह जगना यह प्रमाद है । तो इन १५ प्रकार के प्रमादों में जो परिणमता है उसे प्रमत्त कहते हैं । योग शब्द यहाँ सम्बन्ध के अर्थ में आया है प्रमत्त के योग से ।

(१४३) प्रमादभाव में प्रमत्तता व प्राणव्यपरोपण में प्राणी का घात—यहाँ शङ्काकार कहता है कि यदि प्रमत्तभाव के सम्बन्ध से यह अर्थ इस पद का है तो प्रमत्त शब्द में त्व प्रत्यय और लगाना चाहिए प्रमत्तपने के योग से, क्योंकि द्रव्यप्रधान शब्द रखने पर समय की प्रतीति नहीं होती । जैसे कषाय भाव के सम्बन्ध से यह तो युक्त हो जाता कि यह अमुक कार्य किया जा रहा है पर कषायी के संयोग से इसका कुछ सम्बन्ध नहीं बैठता । तो यहाँ प्रमत्त शब्द में त्व प्रत्यय और लगाना चाहिए । इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यहाँ प्रमत्त शब्द आया तो है द्रव्यप्रधान, पर आत्मा के परिणाम के लिए ही यह प्रमत्त शब्द दिया है । कर्तृसाधन में बना हुआ प्रमत्त शब्द आत्मा के परिणाम में ही दिखाया गया है । जिसने प्रमाद किया है वह परिणाम उसके योग से प्राणों का घात होना हिंसा है अथवा यहाँ योग शब्द का अर्थ लीजिए काययोग, वचनयोग, मनोयोग । काय, वचन, मन की क्रिया से । तब इस पद का अर्थ होगा कि प्रमत्त जीव के काय, वचन, मन की क्रिया से प्राणों का घात होना हिंसा है । यहाँ व्यपरोपण शब्द दिया है, जिसका अर्थ है वियोग करना । प्राण १० प्रकार के बताये गए हैं—५ इन्द्रियप्राण, ३ बल, १ श्वासोच्छ्वास और १ आयु । इन प्राणों का वियोग करना सो व्यपरोपण कहलाता है । प्राणों का वियोग करने से हिंसा प्राणी की होती है, क्योंकि प्राणी तो निरवयव है, उसका क्या वियोग है? वह तो पूर्ण है । प्राण का वियोग होता है । जैसे आयु का विच्छेद, श्वास का विच्छेद । इन्द्रिय को हटा देना । प्राण का वियोग होने से आत्मा को ही तो दुःख होता है, इस कारण प्राण का वियोग कर देना हिंसा है और अर्धम है क्योंकि प्राण आत्मा से सर्वथा जुदे नहीं हैं ।

(१४४) आत्मा की प्राणों से भिन्नता व अभिन्नता की मीमांसा—एक नय में आत्मा से प्राण जुदे दिखते हैं पर वह है निश्चयनय, स्वरूपदृष्टि । प्रत्येक पदार्थ का स्वरूपस्तित्व उसका उसमें ही हुआ करता है, इस दृष्टि से शरीर की बातें भिन्न हैं, आत्मा भिन्न है, किन्तु इस समय सर्वथा भिन्न नहीं है । उनका सम्बन्ध है, उनका बन्धन है और वहाँ प्राणों का घात होने पर आत्मा को कष्ट होता है । तो इस कारण प्राण का घात होने से दुःख है और हिंसा है और वही अर्धम है । प्राण आत्मा से भिन्न चौज है, इसको भी मना नहीं किया जा सकता । स्वरूपदृष्टि से देखें तो भिन्न है । पर यह शंका न रखना कि जब प्राण भिन्न हैं आत्मा से तो उनका वियोग करने पर आत्मा को दुःख न होना चाहिए । यह शंका यों न रखना कि जब अत्यन्त भिन्न पुत्र, स्त्री

मित्रादिक के वियोग में आत्मा को कष्ट होता है फिर प्राण तो कथंचित् भिन्न हैं, सर्वथा भिन्न नहीं, तो उनके वियोग में कष्ट तो होता ही है जीवों को । यद्यपि शरीर जुदा है, शरीर में रहने वाले जीव जुदे हैं, शरीर जड़ है, आत्मा चेतन है, सो लक्षण के भेद से अत्यन्त जुदी बात है, लेकिन दोनों का इस तरह का बंध है कि इस हालत में तो एकत्व बन रहा है । शरीर के वियोग से होने वाला दुःख आत्मा को ही होता है, इस कारण प्राण का वियोग करना हिंसा है, अधर्म है । जो लोग आत्मा को निष्क्रिय मानते हैं, नित्य शुद्ध मानते हैं, सर्वव्यापी मानते हैं उनके यहाँ शरीर से बन्धन नहीं हो सकता, क्योंकि वहाँ आत्मा सर्वव्यापक माना है । शरीर तो थोड़े देश में है और जब शरीर से बंध न बन सका केवल उनकी कल्पना में तो दुःख भी न होगा, हिंसा भी न होगी, पाप भी न लगा । तो पाप से छूटने का उद्यम भी क्यों करना? फिर ब्रत, तप आदिक भी न करने होंगे । तो धर्म कर्म का कुछ भी सम्बन्ध न रहा जो आत्मा को निष्क्रिय नित्य शुद्ध मानते हैं ।

(१४५) **प्रमत्तयोग और प्राणव्यपरोपण का सम्बन्ध**—इस सूत्र में दो बातें कही गई हैं—१-प्रमत्त योग और २-प्राण व्यपरोपण । ये दोनों विशेषण इस बात को सूचित करते हैं कि दोनों के होने पर हिंसा होती है । इनमें से एक अगर नहीं है तो हिंसा नहीं होती । जैसे प्रमत्त योग न हो, सिर्फ प्राण विपरोपण हो तो वह हिंसा न कही जायेगी । जैसे मुनि महाराज शुद्धभाव से ईर्या समितिपूर्वक गमन कर रहे हैं और कदाचित् कोई छोटा प्राणी, कुन्तु जीव पैर धरने के समय पर ही आ जाये और मर जाये तो भी चूंकि मुनि के परिणम में कोई भी खोटापन नहीं है, न कषाय है तो उसे हिंसा नहीं होती । तो प्रमत्त योग न होने पर प्राण विपरोपण भी हो जाये तो भी हिंसा नहीं होती । वास्तव में तो परिणामों में विकृति आये तब हिंसा है । तो विकृति का ही नाम प्रमत्त योग है, उसके अभाव में प्राणवियोग होने पर भी हिंसा नहीं है । यहाँ शंकाकार कहता है कि आप तो दोनों विशेषणों को आवश्यक बतला रहे हैं, किन्तु शास्त्र में तो यह बताया है कि चाहे प्राण का घात न हो, पर प्रमत्तयोग हो तो हिंसा हो ही जाती है । जीव मरे या न मरे पर सावधान पूर्वक जो न चले, जिसके प्रमत्त योग बर्त रहा है उसे तो हिंसा ही है और जो प्रयत्नशील हैं, सावधानी से गमन कर रहे हैं उनके द्वारा कदाचित् कोई प्राणवियोग भी हो जाये तो भी बंध नहीं बताया, तो नियम तो न बना इन दोनों विशेषणों का कि एक न हो तो केवल दूसरे के रहने से हिंसा नहीं है । प्रमत्तयोग हो और प्राणविपरोपण हो, दोनों ही बातें हों तब हिंसा होती है, यह बात तो न बनी । अब इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि जहाँ प्रमत्तयोग है वहाँ प्राणों का घात नियम से है । दूसरे के प्राण का वियोग न सही मगर खुद के ज्ञान दर्शन प्राण का तो घात हो गया । और वास्तव में हिंसा तो अपने ही प्राणों का घात होने से हुआ करती है । तो भावप्राणों के वियोग की अपेक्षा दोनों विशेषण यहाँ सार्थक हैं, वास्तव में जिसके प्रमत्त योग है वह प्रमादी आत्मा पहले तो अपने विकार भाव के कारण अपनी हिंसा करता है, चाहे फिर दूसरे प्राणी का वध या प्राणवियोग हो अथवा न हो ।

(१४६) **प्रमत्तयोग बिना हिंसा न होने से अटपट शंकाओं का अनवकाश**—प्रमत्तयोग बिना हिंसा न होने के कारण यह दोष भी नहीं बन सकता कि संसार में तो सब जगह प्राणी भरे हैं—जल में, थल में, नम में, तुम कहा बैठोगे? जहाँ बैठोगे वहाँ प्राणी भरे पड़े हैं, वहाँ कितने ही प्राणों का घात हो रहा है । तो अहिंसक कोई नहीं बन सकता । तो यह दोष शंका नहीं बनता, क्योंकि जो ज्ञानध्यान में लवलीन है, प्रमादरहित है, कषाय

पर विजय करने वाला है, विषयों से विरक्त है, ऐसे साधु को केवल प्राणवियोग हो जाने से हिंसा नहीं होती। हिंसा का मूल आधार है अपने प्राणों का घात होना। बाहर में कौन पदार्थ कैसा परिणम रहा है, कहां क्या बन गया है? इसके आधार पर हिंसा नहीं है, अपने ही भाव खोटे होने के आधार पर हिंसा मानी गई है। अन्यथा अनेक अटपट शंकायें आ सकती हैं। कोई साधु उपवास करता है तो उपवास करने से पेट के कीड़ों को कष्ट पहुंचा कि नहीं? उनको खुराक न मिली और जब पेट के कीड़ों को दुःख हुआ तो साधु को हिंसा लग जाना चाहिए, क्योंकि आहार का त्याग कर देने से पेट के अन्दर के अनेक कीड़ों की मौत हुई। तो यों हिंसा नहीं लगती साधु के, क्योंकि उसके खोटे भाव तो नहीं हैं। उसके तो अपने रत्नत्रय का परिणाम है, स्वभावदृष्टि है, आत्मा की साधना है, तो जहाँ प्रमत्त योग हो, जहाँ खोटे परिणाम हों वहाँ खुद का घात तो हो ही जाता है। ज्ञान दर्शन सही रूप में न रह सके, यही तो हिंसा है। जीव दो प्रकार के पाये जाते हैं—१) स्थूल और (२) सूक्ष्म। तो उनमें जो सूक्ष्म जीव हैं वे न तो किसी से रुक सकते हैं, न किसी को रोक सकते हैं, उनके तो हिंसा होती ही नहीं है। जगत में सूक्ष्म जीव सूक्ष्म एकेन्द्रिय निगोद जीव, उनका किसी से छिड़ना भिड़ना हो ही नहीं सकता। अग्नि भी जल रही हो तो भी अग्नि के कारण नहीं मरते। उनकी स्वयं आयु एक सेकेण्ड में २३वें हिस्से की है अर्थात् वे सेकेण्ड में २२-२३ बार जन्ममरण करते हैं, पर सूक्ष्म जीव किसी परपदार्थ की टक्कर से नहीं मरा करते। जो स्थूल जीव हैं उनकी यथाशक्ति रक्षा की जाती है और उनकी हिंसा रोकना शक्य है। अपनी चेष्टा सही बनाये, देख-भालकर निरखकर प्रवृत्ति करें तो उन स्थूल जीवों की हिंसा न होगी, तो इसी कारण स्थूल जीवों की यथाशक्ति रक्षा की जाती है। तो जिनकी हिंसा रोकना शक्य है उनके हिंसा का भाव जो नहीं रख रहे और प्रयत्नपूर्वक उस हिंसा को दूर करता रहे तो ऐसे संयत की हिंसा कैसे सम्भव हो सकती?

(१४७) प्राणव्यपरोपण से प्राणी का घात होने के कारण हिंसा की उपपत्ति —इस सूत्र में बताया है कि प्राण का वियोग तो प्राण का हुआ मगर हिंसा किसकी बनी? प्राणी की। यदि प्राणी न हो तो प्राण किसके? प्राण पुण्य पाप भाव से बनते हैं और पुण्य पाप कर्म जीव के पाप का निमित्त पाकर बनते हैं। अगर जीव नहीं है तो पुण्य पाप भी नहीं है। प्राण भी नहीं है, पर ऐसा नहीं है। यह प्राणों का सद्भाव प्राणी के अस्तित्व को सिद्ध करता है। जीव है शरीर में क्योंकि श्वास आ रही, इन्द्रियां काम कर रहीं, तो इन प्राणों के सद्भाव से प्राणी जीव का परिचय होता है। जैसे कि किसी घर में कोई लुहार बैठा हुआ लोहे का कार्य कर रहा है, वह संडासी से लोहपिण्ड को नीचा ऊँचा उठा रहा है, वह लुहार दरवाजे के एक तरफ भींत की आड़ में है, वह बाहर से दिखता नहीं, मगर संडासी का उठाना, पकड़ना, चलाना देखकर यह अनुमान बनता है, कि यह लुहार है और कार्य कर रहा है, ऐसे ही इन्द्रिय आदिक प्राणी का सद्भाव देखकर यह ज्ञान बनता है कि इसमें प्राणी है जीव है। यदि प्राणी न हो तो देखना, अनुभवना, पाना, ग्रहण करना, संस्कार बनना आदि सब बातें न हो सकेंगी। तो अब शक्तिहीन हो जाने से ये भौतिक पदार्थ अथवा कोई क्षणिक आत्मा माने तो वह एक दूसरे के उपकार के प्रति अब उत्सुकता न रखेगा। तो आत्मा का सद्भाव न मानने पर कर्ता का अभाव होने से फिर पुण्य पापकर्म न बनेगा और प्राणों का अभाव हो जायेगा और जो कुछ यह देखना अनुभवना चल रहा है, ये

कुछ न बनेंगे । ये अचेतन पदार्थ अथवा क्षणिक आत्मा जब अपने ही कार्य करने में असमर्थ है तो हिंसा का व्यापार कैसे कर सकेगा और हिंसा का व्यापार देखा जा रहा है, इस कारण हिंसा करने वाला आत्मा का सद्भाव है और उस प्राणी का सद्भाव होने से प्राणों का भी सद्भाव बनता है । और प्राणों के व्यपरोपण से प्राणी का घात होता है ।

(१४८) क्षणिकवाद में हिंसा हिंसाफल संसार मोक्षमार्ग व मोक्ष की अनुपत्ति—जो सिद्धान्त आत्मा को क्षणिक मानते हैं उनके यहाँ एक ही आत्मा कोई देखे, अनुभवे, प्राप्त करे, निमित्त का ग्रहण करे उसमें संस्कार आये, स्मरण करे—ये सारी बातें नहीं हो सकती हैं, क्योंकि ये बातें भिन्न-भिन्न आत्माओं में रहेंगी । एक ही समय में ये सारी क्रियायें नहीं हो सकता । तो जब स्मरण न हो सकेगा तो कैसे यह कर्ता है? इसने फल भोगा, यह फल पायेगा । यह एक कर्ता में नहीं बन सकता । तो न हिंसा का व्यापार बन सकेगा और न फल पाने का व्यापार बन सकेगा । उत्पत्ति के बाद जब आत्मा तुरन्त नष्ट हो गया और विनाश अहेतुक है तो किसी का प्राण नष्ट हो गया उसमें भी कोई हेतु न रहा । जब किसी के द्वारा किसी का प्राण नष्ट होता ही नहीं है तो कोई हिंसक कैसे कहलाया? और उसे हिंसा का फल क्यों मिलेगा? फल मिलता रहेगा दूसरे को जिसने हिंसा नहीं की । ऐसी अंधेरगर्दी होवे तो फिर इस लोक में कोई हिंसक ही नहीं हो सकता । करेगा कोई, पाप लगेगा दूसरे का, फल पायेगा कोई और ही । ऐसा तो हो न सकेगा कि किसी भिन्न संतान में आये हुए आत्मा के प्राण के वियोग से हिंसा लग जाये । तो क्षणिकवाद में न पाप की व्यवस्था बनती, न फल पाने की व्यवस्था बनती, और न मोक्षमार्ग बनता । जो सिद्धान्त आत्मा को नित्यानित्यात्मक मानते हैं और है भी ऐसा ही सो उनके यहाँ ही संसार और मोक्ष की व्यवस्था हो सकती है । अब हिंसा का लक्षण कह कर असत्य का लक्षण कहते हैं ।

## सूत्र 7-14

असदभिधानमनृतम् ॥ ७—१४ ॥

(१४९) असत्य पाप का लक्षण—असत्य कहना अनृत पाप है अर्थात् झूठ नाम का पाप है । सत् का अर्थ है उत्तम । प्रशंसावाची शब्द है यह । और जो सत् नहीं है वह असत् है अर्थात् अप्रशस्त अयोग्य नित्य, उसका कथन करना सो असत्य है । जो पदार्थ जिस प्रकार विद्यमान है उस प्रकार न कहकर अन्य प्रकार कथन करना असत्य है । यहाँ शंकाकार कहता है कि सूत्र को यदि इन शब्दों से बनाते मिथ्या अनृतं, तो यह बड़ा छोटा सूत्र बनता । और सूत्र जितना छोटा बने उतना ही भला माना गया है । इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि मिथ्या शब्द देने से झूठ के जो अर्थ हैं उनका पूरा बोध नहीं हो सकता, क्योंकि मिथ्या का तो अर्थ इतना ही है कि उल्टा । उल्टा कहना झूठ है सो कोई उल्टा कहे, जो विद्यमान है उसका लोप करे और जो है ही नहीं उसका कथन करे, बस इतना ही झूठ शब्द में आता, अन्य असत्यों का ग्रहण नहीं होता । जैसे अनेक सिद्धान्त लोगों के द्वारा माने गए हैं कि आत्मा नहीं है, पर कहीं लोन तो विद्यमान का लोप करना झूठ है, उसका ग्रहण हो गया । इसलिए कोई लोग कहते हैं कि आत्मा कंगनी के चावल बराबर है, अंगूठी की पोर बराबर है ।

कोई आत्मा को सर्वव्यापी मानते, कोई निष्क्रिय मानते । तो जो मिथ्या वचन बोले गए वे ही असत्य कहलाते मिथ्या शब्द कहने से, पर जो अप्रशस्त वचन हैं, खोटे वचन हैं, दूसरे को पीड़ा पहुंचाने वाले कटुक वचन हैं वे तो असत्य नहीं कहलाते, लेकिन असत्य वे भी हैं । जिन वचनों से दूसरों का अहित हो वे भी असत्य कहलाते हैं । इस तथ्य को सिद्ध करने के लिए सूत्र में असत् का अभिधान अर्थात् कथन, यह शब्द दिया है । अब असत्य का लक्षण कहकर चौर्य पाप का लक्षण कहते हैं ।

## सूत्र 7-15

अदत्तादानं स्तेयम् ॥ ७-१५ ॥

(१५०) चौर्य पाप का लक्षण—अदत्त का ग्रहण करना चोरी है । जो किसी के द्वारा दिया गया नहीं है, बिना दिए हुए को ग्रहण कर लेना चोरी है । यहाँ एक जिज्ञासा होती है कि कर्मों को तो कोई देता नहीं है और उसे यह आत्मा ग्रहण करता है । अपने शुभ अशुभ परिणामों के द्वारा आत्मा कर्मवर्गणाओं को ग्रहण करता है वहाँ आस्रब होता है । तो लो यह बिना हुए ही ले लिया । तो उसे चोरी का पाप लग जाना चाहिए और ऐसे कर्मों का ग्रहण वीतराग मुनि संतों के भी चलता है और शरीरवर्गणाओं का ग्रहण भी चलता रहता है, शरीर वर्गणाओं का ग्रहण तो सशरीर परमात्मा के भी चल रहा है, तो क्या ये सब चोरी पाप कहलायेंगे? इस जिज्ञासा के समाधान में कहते हैं कि अदत्त शब्द का अर्थ यह है कि जिसके विषय में दिया गया, नहीं दिया गया का व्यवहार होता है । जिसके देने में और लेने में प्रवृत्ति और निवृत्ति देखी जाती है । जैसे किसी ने स्वर्ण, भोजन आदि दिया तो उससे वह निवृत्त हो गया । किसी ने ग्रहण किया तो वहाँ देने लेने की ओर प्रवृत्ति निवृत्ति की जहाँ सम्भवता है, वहाँ ही बिना दिया हुए को ग्रहण करना चोरी कहलाता है । इससे कर्म आते हैं उनसे चौर्य पाप की व्यवस्था नहीं की गई । कोई यह न समझे कि ये अपनी इच्छा से ही अर्थ लगाये जा रहे हैं । अदत्तादान शब्द ही इस बात को जतला रहा है याने जिसमें देने का प्रसंग है उसी को न देने पर अदत्त कहलाता है । जैसे वस्त्रपान भोजन आदिक हाथ आदिक के द्वारा दिये जाते, लिए जाते उस तरह कर्म का देने लेने का व्यवहार नहीं है । कर्म तो अत्यंत सूक्ष्म हैं । उनके हाथ आदिक के द्वारा देना लेना नहीं होता । वहाँ तो केवल यह व्यवस्था है कि जीव के रागद्वेषरूप परिणाम होते हैं तो उसका निमित्त पाकर कार्मणवर्गणायें कर्मरूप परिणम जाती हैं । सो सर्व पदार्थों का परिणमन स्वतन्त्र है, उसमें देन लेन का संकल्प नहीं है । नैमित्तिक भाव है, उनमें अदत्तादान की बात नहीं आती । वह तो सब निमित्त-नैमित्तिक भाव का परिणाम है । जीव के रागादिक भाव होते हैं, कर्मों का आस्रब होता है । जब गुप्ति आदिक संवर भाव होते हैं तब आस्रब का निरोध हो जाता है । यहाँ लौकिक लेनदेन का व्यवहार नहीं है । जहाँ लेनदेन का व्यवहार है वहाँ ही बिना दिए हुए का ग्रहण करने में चौर्य पाप होता है ।

(१५१) प्रमत्तयोग के बिना पाप की असंभवता—अब एक शंकाकार कहता है कि इन्द्रिय के द्वारा शब्दादिक विषयों का ग्रहण देखा जाता है और यह बात साधु महाराज के भी बन रही है, मगर के दरवाजे आदिक से

साधु गुजरता है तो वह भी बिना दिए हुए द्वार को प्राप्त करता है तब तो साधु को भी चौर्यपाप लगना चाहिए । इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि जैसे हिंसा लक्षण वाले सूत्र में प्रमत्त योग शब्द दिया, था कि कषायसहित परिणाम होने से हिंसा होती है, तो उसकी अनुवृत्ति इसके पूर्व सूत्र में भी आयी कि कषायसहित होने से असत् का कथन करना झूठ है सो उसकी अनुवृत्ति इस सूत्र में भी आती है । कषायभाव से बिना दिए हुए को ग्रहण करना चोरी है । तो जो साधु यत्नवान है, देख-भालकर चलता है, किसी के प्रति बुरा भाव रखता नहीं, अप्रमत्त है, आगम में कही हुई विधि से आचरण कर रहा है यदि उसके कान में शब्दादिक सुनने में आ गए तो इसमें चोरी का दोष नहीं है । जो वस्तु सबके लिए दी गई है वह अदत्त नहीं कहलाती और इसी कारण साधु उन दरवाजों में प्रवेश नहीं करता जो सार्वजनिक नहीं हैं, किसी एक व्यक्ति का द्वार है अथवा बंद है उसमें प्रवेश नहीं करता । तो जिसमें दिया लिया जाने का व्यवहार है और सार्वजनिक साधारण विधि नहीं है वहाँ बिना दिए का ग्रहण करना चोरी पाप कहलाता है । यों तो कोई यह भी कह सकता है कि साधु वंदन, सामायिक आदिक शुभ क्रियायें करता है और उसके पुण्य का संचय होता है तो उस पुण्य को ग्रहण करने में भी तो बिना दिया हुआ लिया । भले ही शुभ चोरी हुई पर यह भी तो चोरी है । यह आशंका बिल्कुल बेसिर पैर की है, क्योंकि जब एक बार बता दिया कि जहाँ देने लेने का व्यवहार होता है वहाँ ही बिना दिए हुए का ग्रहण करना चोरी है और फिर प्रमत्त योग का सम्बन्ध भी तो हो तब चोरी होती है । वंदना आदिक क्रियादों में सावधानीपूर्वक आचरण करने वाले साधु के प्रमत्तयोग नहीं है इसलिए चोरी का प्रसंग नहीं है । किसी पुरुष के प्रमत्तयोग हो, खोटे परिणाम हों, किसी की चोरी करने का भाव बना लिया हो और चोरी भी न कर सके तो भी दूसरे को पीड़ा का कारण तो सोचा । वहाँ पाप का आस्तव होगा ही । यहाँ कोई ऐसी भी शंका कर सकता कि कोई डाकू किसी के घर पर डाका डालता है तो वह बिना मालिक के दिए हुए नहीं लेता, मालिक से ही तिजोरी खुलवाता, उसके ही हाथ से सारा सामान निकलवाता, तो उसमें उस डाका डालने वाले को चोरी का दोष तो न लगना चाहिए । क्योंकि उसने दिया हुआ ही तो लिया? तो भाई ऐसी शंका ठीक नहीं । कारण यह है कि अभिप्राय से मैं दे रहा हूँ, मुझे देना चाहिए, ऐसा हर्ष वाला अभिप्राय उसके कहाँ है? तो वह दिया जाकर भी न दिया हुआ ही है । ऐसा धन ग्रहण करना भी चोरी कहलाता है । चोरी पाप का लक्षण कहते हैं ।

## सूत्र 7-16

मैथुनमब्रह्म ॥ ७-१६ ॥

(१५२) कुशील पाप का लक्षण—मैथुन कर्म को अब्रह्म कहते हैं । स्त्री-पुरुषविषयक शरीर सम्मिलन होने पर सुख की प्राप्ति की इच्छा से जो रागादिक भाव होता है वह मैथुन कहलाता है । मिथुन के भाव को मैथुन कहते हैं । शब्द की व्युत्पत्ति तो यह है, पर उसका भाव यह नहीं है कि दो द्रव्य जहाँ इकट्ठे हों वह मैथुन हो गया । अर्थ यह है कि परस्पर मिलकर जो कामविषयक भाव किया जाता है वह है मैथुन । यदि दो का एक जगह रहना कुशील कहलाने लगे तो जो उदासीन वृत्ति से घर में रहते हैं स्त्री पुरुष, जिनके ब्रह्मचर्य का नियम है, अलग रह रहे हैं, राग भी नहीं है कामविषयक तो उनके रहने मात्र से फिर मैथुन कह दिया जायेगा, इसलिए

यह अर्थ नहीं किया जा सकता कि जो दो का कार्य है सो मैथुन है। मिथुनस्य कर्म मैथुनं, यह भी अर्थ नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि किसी कार्य को दो पुरुष मिलकर कर रहे हैं—दुकान करना, भोजन बनाना या कोई एक ट्रंक का दोनों के द्वारा ले जाना तो ये दो पुरुषों के द्वारा किए गए हैं, ये भी मैथुन कहलाने लगेंगे। इस कारण यह भी अर्थ न करना कि जो दो का काम हो सो मैथुन है। एक तीसरा यह अर्थ भी न करना कि स्त्री पुरुष का जो काम हो सो मैथुन है। दो पुरुष के किए हुए काम को मैथुन नहीं कहा किन्तु स्त्री पुरुष मिलकर कार्य करते हैं वह मैथुन होता—यह भी अर्थ न करना क्योंकि अनेक कार्य ऐसे होते कि स्त्री पुरुष मिलकर कर रहे। कभी भोजन बनाना आदिक भी स्त्री पुरुष मिलकर कर रहे हैं तो क्या वह कार्य मैथुन कहलायेगा? अथवा स्त्री पुरुष दोनों किसी साधु को नमस्कार कर रहे, प्रभु की पूजा कर रहे तो क्या ये कार्य मैथुन हो जायेंगे? नहीं। तब यह तीसरा अर्थ भी ठीक नहीं है कि स्त्री और पुरुष का जो कार्य है सो मैथुन है, किन्तु मैथुन का अर्थ क्या है? चारित्रमोह का उदय होने पर स्त्री पुरुष का परस्पर शरीर संसर्ग पूर्वक सुख चाहने वाले उन दोनों में जो राग परिणाम होता है वह मैथुन है। सो यह तो मैथुन है ही, पर इतना ही न समझना, किन्तु एक पुरुष यदि हस्तादिक क्रियाओं से अपने शरीर के वीर्य को खोता है तो ऐसे समय के परिणाम भी। मैथुन कहलाते हैं, ऐसे किसी भी प्रकार के रागभाव को कुशील परिणाम कहते हैं।

(१५३) कामचेष्टाओं में मैथुनत्व की प्रसिद्धि—कामासक्त पुरुष अकेला ही कामपिशाच के वशीभूत होकर वही दो रूप बन गया है, इस कारण चारित्रमोह के उदय से प्रकट हुए काम पिशाच के वशीभूत होने से वह अकेला ही पुरुष जो कामासक्त है वह दूसरे के साथ हो गया, इस कारण भी उसकी क्रियाओं को मैथुन कह सकते हैं। यद्यपि कुशील अपने कामविषयक खोटे भाव को कहते हैं, फिर भी इस कुशीलता की प्रसिद्धि मैथुन शब्द से यों बनी है कि लोक में और शास्त्रों में उसकी प्रसिद्धि स्त्री पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुई रति विशेष में हुई। लोक में तो चरवाहे तक भी स्त्री और पुरुषविषयक रति कर्म को मैथुन कहा करते हैं। शास्त्र में भी व्याकरण तक में मैथुन शब्द का इसी भाव से प्रयोग है, इस कारण मैथुन में कुशील परिणाम का नाम रखा गया है। मिथुन शब्द से प्रसिद्धि तो स्त्रीपुरुषविषयक है पर कभी दोनों पुरुषों में भी परस्पर काम चेष्टा हो जाती है तो वह पुरुष चारित्रमोह के तीव्र उदय से घिरी हुई स्थिति में है। सर्व शंकाओं का समाधान प्रमत्तयोग शब्द से हो जाता है। जहाँ-जहाँ प्रमत्तयोग है उसके कारण जो मिथुन का कर्म है, जो कामपिशाच के वश हुई चेष्टायें हैं वे सब मैथुन कहलाती हैं। यहाँ शब्द दिया है अब्रह्म। जो ब्रह्म नहीं सो अब्रह्म। ब्रह्म किसे कहते हैं? अहिंसा आदिक गुण जिसके पालन करने पर बढ़े उसका नाम ब्रह्म है। आत्मशील की दृष्टि करने से अहिंसा आदिक गुणों का विकास होता है, इस कारण शील की दृष्टि से विषयों से विरक्त होना ब्रह्म कहलाता है। और जो ब्रह्म नहीं है वह अब्रह्म है। अब्रह्म में, मैथुन प्रवृत्ति में उसके हिंसा आदिक दोष पुष्ट होते हैं। जो मैथुन सेवन कर रहा है वह पुरुष योनिगत चराचर प्राणियों की हिंसा कर रहा है और वह उस राग में झूठ भी बोलता है और इस काम की पीड़ा के वश होकर कभी यह अदत्त वस्तु को भी ग्रहण करता है। इसके परिग्रहभाव मूर्छाभाव तो निरन्तर चलता रहता है। कार्मी सचेतन और अचेतन परिग्रह का ग्रहण करता है। अब्रह्म पाप एक महान पाप है, वहाँ तो अब्रह्म व्यभिचार हिंसा को भी कह सकते हैं, झूठ आदिक को भी कह सकते हैं किन्तु व्यभिचार

की प्रसिद्धि क्यों कुशील नामक चौथे पाप में हुई है कि इस कुशीलसेवन करने वाले के आत्मा की सुध होना बड़ा कठिन होता है। इस कारण कुशील आत्मशील से एकदम विपरीत भाव है। यहाँ तक हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील—इन चार पापों का वर्णन किया गया, अब परिग्रह का वर्णन क्रम प्राप्त है। सो अब परिग्रह का लक्षण बतलाते हैं।

## सूत्र 7-17

**मूर्छा परिग्रहः ॥७-१७॥**

(१५४) परिग्रह पाप का लक्षण—मूर्छा को परिग्रह कहते हैं। किसी भी बाह्य पदार्थ का आत्मा में न लगाव का सम्बंध है और न विलगाव का सम्बंध है। सर्व पदार्थ स्वतंत्र-स्वतंत्र अपनी सत्ता लिए हुए अवस्थित हैं और किसी भी पदार्थ का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आत्मा में नहीं आता। इस कारण बाह्य पदार्थों को न यह आत्मा ग्रहण करता है और न बाह्य पदार्थ परिग्रह कहला सकते हैं। तो परिग्रह तो वह है जिसको अपने आत्मा में ग्रहण करे। आत्मा विकल्प को ग्रहण करता है इसलिए विकल्प मूर्छा यह ही परिग्रह है। बाह्य वस्तु परिग्रह नहीं होता, फिर भी इन विकल्पों का व्यक्तिकरण आश्रयभूत कारण में उपयोग देकर होता है और आश्रयभूत कारण हैं चेतन अचेतन बाह्य पदार्थ, सो आश्रयभूत कारण होने से इसमें परिग्रह का उपचार किया गया है। वास्तव में परिग्रह मूर्छा है। मूर्छा क्या कहलाती है? बाह्य जो धन धान्य वैभव चेतन अचेतन पदार्थ, गाय, बैल, भेंस, पशु, बंधु आदिक और भीतर में हैं रागादिक भाव, इनकी रक्षा, इनका उपार्जन, इनमें लगाव, इनके संस्कार के प्रति जो आत्मा का भावरूप व्यापार है, विकल्प है उसे मूर्छा कहते हैं। यहाँ एक शंकाकार कहता है कि शरीर में जो वात, पित्त, कफ नाम का किसी भी दोष से जो यह शरीर में विकार होता, बेहोशी होती, मूर्छा तो उसे कहा करते। उस ही मूर्छा को परिग्रह कहना चाहिए। इस शंका के उत्तर में कहते हैं। इस शारीरिक मूर्छा को मूर्छा कैसे कहा जा सकता? मूर्छा धातु मोह अर्थ में आती है, सो बाह्य और अंतरंग उपाधि की रक्षा आदिक के विषय में जो कुछ विकल्प जगता है वही यहाँ मूर्छा शब्द से लिया गया है।

(१५५) बाह्य पदार्थ में उपचार से परिग्रहपना—शंकाकार कहता है कि यदि मूर्छा नाम अन्तरङ्ग विकल्प का है तो फिर धन धान्य वैभव आदिक परिग्रह न कहलायेंगे, क्योंकि मूर्छा शब्द से आध्यात्मिक परिग्रह ग्रहण किया है। फिर बाह्य पदार्थ परिग्रह न रहेगा। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि प्रधानता तो अध्यात्म की है, क्योंकि जीव को कष्ट अपने मूर्छा के कारण होता है। आत्मा की सुध न रहना और अटपट बाह्यविषयक विचार जगना—यह ही मूर्छा है और इस ही से आत्मा को कष्ट है। यह मेरा है, इस प्रकार का जो संकल्प है वह आध्यात्मिक परिग्रह है। और उसी को यहाँ कहा गया है। जब संकल्प विकल्प को परिग्रह में ग्रहण किया गया तो इसका आश्रयभूत कारण जो बाह्य विषयभूत पदार्थ है वह अपने आप परिग्रह है। ऐसा उपचार किया जाता है। जैसे कि लोग कहने लगते कि अन्न ही वास्तव में प्राण है, तो कहीं अन्न ही तो प्राण नहीं हो गया। प्राण तो ५ इन्द्रिय, ३ बल, १ श्वासोच्छ्वास और १ आयु ये १० हैं। अन्य कहीं प्राण नहीं हैं। चूंकि शरीर की स्थिति अन्न के कारण रहती है। इस कारण कर्ता कार्य का उपचार किया है सो कहा कि अन्न प्राण है।

इसी प्रकार वास्तव में मूर्छा तो अंतरंग का विकल्प है, पर इस विकल्प के आश्रयभूत कारण हैं बाह्य पदार्थ, अतः बाह्य पदार्थों को परिग्रह कहा है और उनको ही मूर्छा शब्द से कह सकते हैं।

(१५६) नैमित्तिक भावों के अपनाने में परिग्रहपना—अब यहाँ कोई शंकाकार कहता है कि यदि आत्मा में उठने वाले रागद्वेषादिक परिणाम को परिग्रह कहते हो तो आत्मा में उठने वाले दर्शनज्ञानचारित्र को भी परिग्रह कह दीजिए, क्योंकि आध्यात्मिक परिग्रह को प्रधान कह रहे हो। तो जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र में यह मेरा गुण है, यह मेरा स्वरूप है, इस प्रकार का जो संकल्प है उसे ही परिग्रह कहो फिर? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि इस सूत्र में प्रमत्त योग शब्द की अनुवृत्ति लेना है, जिससे यह अर्थ निकलता कि प्रमाद कषाय के सम्बन्ध से जो यह मेरा है, ऐसा संकल्प बनता है उसे मूर्छा कहते हैं, पर ज्ञान, दर्शन, चारित्र गुण के सम्बन्ध में किसी को बेसुधी या मोह कषाय नहीं जगती। प्रमत्त रहित साधु के भी ज्ञान दर्शन चारित्र के विषय में कोई कषाय नहीं जगती, ऐसे मोह का अभाव होने से उस चिन्तन में मूर्छा नहीं कही जाती और वह परिग्रहरहित है। दूसरी बात यह है कि रागादिक भाव तो कर्मोदय का निमित्त पाकर होते हैं सो वे रागादिक भाव पराधीन हैं, कर्म के उदय के आधीन है, इस कारण रागादिक भाव आत्मा के स्वभाव नहीं हैं, किन्तु ज्ञानादिक भाव तो स्वयं हैं, अहेय हैं, ये त्यागे नहीं जा सकते। आत्मा स्वभावरूप है इस कारण ज्ञानादिक भावों से परिग्रहपना नहीं माना गया है। हाँ रागादिक भाव जो मेरे स्वरूप में नहीं हैं, कर्म के उदय की छाया हैं उन भावों में यह मेरा है—इस प्रकार का संकल्प होना यह परिग्रह कहलाता है।

(१५७) दर्शनमोह में निरन्तर व्याकुलता एवं दुर्गति—यह मेरा है इस कथन में भी दो जातियाँ हैं। एक पुरुष तो रागादिक विकारों को आत्मस्वरूप समझकर, उनसे भिन्न न निरखकर उसी को ही मानता है कि यह मैं हूँ, यह मेरा है, ऐसे दर्शन मोह वाले जीव के भी बाह्य पदार्थों में यह मेरा है, ऐसा ख्याल जगता है। और सम्यग्दृष्टि पुरुष के भी परिस्थितिवश ऐसा कथन चलता है कि यह घर मेरा है, यह भाई मेरा है। परिग्रहपना यद्यपि दोनों में आया तो भी एक अज्ञानी का विकल्प है और एक ज्ञानी का विकल्प है। वास्तव में मूर्छा अंतरंग विकार को ही कहते हैं। जीव में जितना भी दोष का सम्बंध होता है वह परिग्रह के कारण से होता है। जब किसी पदार्थ में यह मेरा है, ऐसा संकल्प बना तो उसकी रक्षा की भी चिंता होती है, अनेक प्रकार के उद्यम करने पड़ते हैं और उन प्रवृत्तियों में हिंसा भी अवश्य होती है। और परिग्रह के लिए यह झूठ भी बोलता है, चौरी भी करता है, कुशील कर्म में भी लगता है और पश्चात् इस कुकर्मों के कारण नरकादि के अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं, इस लिए परिग्रह इस आत्मा के लिए अत्यंत अनर्थ की चीज है। जिस पुरुष को रागादिक विकार से रहित ज्ञानमात्र आत्मस्वरूप का परिचय नहीं है वह एकदम अंधेरे में है और इस जगत में किसी भी पदार्थ पर टिक नहीं सकता, क्योंकि बाह्यपदार्थ तो अनित्य हैं, उन पर उपयोग जमेगा नहीं। जो अपना ध्रुव स्वरूप है उसका इसे परिचय नहीं तो इसका उपयोग जहाँ चल सकता है उसका तो ख्याल ही नहीं। बाहर ही बाहर भटकता रहता है।

(१५८) ज्ञानप्रकाश प्राप्त होने पर ज्ञानी को सर्वत्र निरापदता—संसार में जीव को कहीं भी दुःख नहीं है, क्योंकि इसका स्वरूप ही आनन्द है। केवल आत्मस्वरूप में दृष्टि करे तो विदित होगा कि यह मैं ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व

हूँ, जिसका जगत में कोई पहिचानने वाला नहीं है। जितना भी दूसरे लोग व्यवहार करते हैं मुझसे तो केवल इस शरीर को। इस पर्याय को निरखकर ही व्यवहार किया करते हैं, मेरे चैतन्यस्वरूप से कोई व्यवहार नहीं कर सकता और न किसी पदार्थ से मेरा सम्बन्ध भी है। ऐसा विविक्त ज्ञानमात्र अपने स्वरूप को दृष्टि में लेने वाला पुरुष लोक में उत्तम हुए। बाह्य धन वैभव की तो कथा ही क्या? यह शरीर भी मेरा स्वरूप नहीं। शरीर में कोई चेष्टायें हो रही हैं तो उनका ज्ञाताद्रष्टा रहता है यह ज्ञानी। शरीर में कोई रोग हो, शरीर में कोई विकार हो तो उसका यह ज्ञाता द्रष्टा ही रहता है। उसे अपनाता नहीं कि हाय मैं क्या करूँ? ज्ञानी पुरुष को किसी भी स्थिति में उलझन नहीं रहती क्योंकि उसने यह समझ लिया है कि मैं तो केवल ज्ञानमात्र हूँ और स्वतः ही सहज आनन्दस्वरूप हूँ। मेरे को बाह्य में कुछ करने को भी नहीं पड़ा है। किसी अन्य पदार्थ में मैं कुछ कर भी नहीं सकता हूँ। मात्र मैं अपने आपके भाव ही किया करता हूँ। फिर डर किसका? शङ्खा क्या? विपत्ति कहा? विपत्ति केवल मानने की होती है। किसी भी स्थिति को अनिष्ट मान लिया लो विपत्ति आ गई और जब यह ज्ञान रहता है कि मेरा आत्मा परिपूर्ण है, ज्ञानमय है, आनन्द से भरा है और यह अपने आप में अपना परिणमन करता रहता है। हमें तो अपने से बाहर कुछ मतलब ही नहीं है, ऐसे अविकार स्वरूप को निरखने वाले के मूर्छा नहीं हो सकती। ज्ञानी पुरुष को तो अपने रागादिक भावों के प्रति भी ममता नहीं है। तब फिर उसे जगत में कष्ट ही क्या है? जितनी भी विपत्तियां आती हैं वे सब इस मूर्छा के आधार पर आती हैं। यहाँ तक ५ प्रकार के ब्रत कहा, पाँचों ब्रतों की भावनायें कहीं और जिन पापों से विरक्त होना है उन पापों का स्वरूप कहा, सो भावनाओं के द्वारा जिन्होंने अपना चित्त स्थिर किया है और पापों में अपाय विनाश देखते हैं, ऐसे विलक्षण पुरुष, विवेकी पुरुष समस्त संसारी क्रियाओं से हट जाते हैं, उनमें उत्सुकता नहीं रहती, क्योंकि वे सब दुःखरूप हैं। तब वे मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ, इन भावों से अपने को स्वच्छ करते हुए मोक्ष के प्रति अपना चित्त लगाते हैं। ऐसे पुरुषों के ब्रत हुआ करते हैं। तो वे ब्रती कैसे होते हैं इसके मूल स्वरूप को कहते हुए सूत्र कहते हैं।

## सूत्र 7-18

निःशल्यो ब्रती ॥ ७-१८ ॥

(१५९) ब्रती की अनिवार्य विशेषता—निःशल्य ब्रती होता है, ब्रती निःशल्य होता है। जीव की रक्षा पाप से निवृत्त रहने में है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पापों में जो अपना उपयोग रखता है, धर्म की अवहेलना करता है। कि यह स्वयं भगवान आत्मा है। जानता तो सब है ही कि मैं यह खोटा काम कर रहा हूँ तो उसके ज्ञान में होने से उसके ज्ञान का बल घट जाता है और ज्ञान का बल घट जानें से उसे अनेक प्रकार की विह्वलतायें होती हैं। इससे जिसको अपने जीवन में सुख शान्ति चाहिए और जो दृढ़तापूर्वक अपना जीवनयापन करना चाहता हो उसका कर्तव्य है कि अपनी शक्ति अनुसार इन ५ पापों से विरक्त होवे। अब कोई पुरुष ५ पापों को ऊपर से तो छोड़ चुका। किसी की हिंसा नहीं करता, किसी से झूठ नहीं बोलता, किसी की चीज नहीं चुराता, किसी परनारी पर दृष्टि नहीं देता, अधिक परिग्रह नहीं रखता या परिग्रह का त्याग

कर देता, फिर भी यदि उसके अन्दर कुछ शल्य है तो वह ब्रती नहीं कहला सकता। यह बात इस सूत्र में कही जा रही है। भव्य का अर्थ है जो अनेक तरह से प्राणि समूह को घाते, हिंसा करे, दुःखी करे, कांटे की तरह जो चुभे उसे कहते हैं शल्य।

(१६०) ब्रती की मायाशल्यरहितता—वे शल्य तीन तरह के हैं—(१) माया, (२) निदान, (३) मिथ्या। छल-कपट करना। किसी के प्रति कपट का व्यवहार करने से फायदा क्या, बल्कि उस कपट करने वाले को हानि है। जिस किसी दूसरे के प्रति कपट किया गया उसको हानि होना उसके पाप के अनुसार है, मगर इसने जो बुरा परिणाम किया उससे तो तत्काल ज्ञानबल घट गया और ऐसा कर्मबन्ध हुआ कि जिसके उदय में यह भविष्य में भी दुःखी रहेगा। जिसके आत्मा का ज्ञान नहीं है वही पुरुष छल कपट की बात सोचता है। जिसको साफ विदित है कि यह जगत भिन्न है, देह भी मेरा नहीं है, मैं अमृत ज्ञानमय पदार्थ हूँ, स्वयं सहज आनन्दमय हूँ। जैसे आकाश निर्लेप है ऐसे ही मैं आत्मा अमृत अपने स्वरूपतः निर्लेप हूँ। इसमें कोई वेदना नहीं, इस आत्मा में कोई बाधा नहीं, इस आत्मा को कोई जानता नहीं। यह आत्मा स्वयं आनन्दस्वरूप है। ऐसा जानने वाला पुरुष अपनी ही स्वरूप दृष्टि में मग्न रहता है। बाहर से वह सुख की आशा नहीं रखता। होता ही नहीं कहीं बाहर से सुख। जितना भी सुख होता है वह आत्मा का आत्मा के आनन्द गुण से होता है। जब बाहर मेरा कहीं कुछ नहीं है तो किसी पदार्थ के संचय के लिए क्या कपट करना? जीवन मिला है, कर्म भी साथ हैं, जैसा उदय होगा वैसा सहज योग मिलता जाता है। कार्य चलता जाता है, पर किसी भी पदार्थ की तीव्र अभिलाषा रखने में जिसके लिए कपट करना पड़े तो उसका फल यह ही खुद भोगता है, दूसरा नहीं भोगता। जो ज्ञानी है, सम्यग्दृष्टि है, ब्रती है उसके छल कपट वाला शल्य नहीं होता। यह जीव वास्तविक सद्भूत पदार्थ है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र आनन्द आदिक अनेक गुणों का यह समुदाय है। यदि यह सत्य ज्ञानरूप बना रहे तब तो आनन्द ही आनन्द है। और जहाँ तृष्णा का भाव आया और तृष्णा के कारण से छल कपट करना पड़ता है तो ऐसा कपट वृत्ति रखने वाला पुरुष ब्रती नहीं हो सकता।

(१६१) ब्रती की निदानशल्यरहितता—दूसरा शल्य है निदान। मैं परलोक में राजा बनूँ, सेठ साहूकार बनूँ या देव बनूँ, इस प्रकार का भाव रखना निदान है। निदान तो ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष करता ही नहीं है, ब्रती हो तो वह निदान करेगा ही क्यों? जिसको अपने आत्मा की खबर नहीं है वही ऐसी उड़ान लगायेगा कि मैं राजा बनूँ, देव बनूँ क्योंकि उस अज्ञानी को यह खबर नहीं है कि ये राजा देव, सेठ आदि सब दुःखी हैं। जहाँ जहाँ अज्ञान है वहाँ वहाँ दुःख है। उन दुःखों की रीति भिन्न-भिन्न है। सेठ लोग और तरह से दुःख महसूस कर रहे हैं, उनके पास धन वैभव है तो इसकी रक्षा कैसे हो, यह बिगड़ रहा है। इतना नुक्सान हो रहा है, यों न जाने कितने-कितने विकल्प करके दुःखी रहते हैं? निर्धन लोग निर्धनता से दुःखी रहते हैं, वैन से नहीं बैठ सकते। तो ये सब संसार के जितने रूपक होते। चाहे सेठ हो, चाहे राजा हो, चाहे मिनिस्टर हो, चाहे राष्ट्रपति हो, जो भी है वह निरन्तर दुःख से पीड़ित रहता है। हाँ मोह के कारण वे अपनी पीड़ा ऐसी नहीं महसूस करते कि मैं दुःखी हूँ, अपने को कल्पना से मानते कि मैं सुखी हूँ, पर हैं वे दुःखी। वास्तविक विवेकी तो वह है जो ऐसा उपाय बनावे कि संसार के संकट सदा के लिए मिट जायें। प्रथम तो यह जानना कि इस शरीर का

सम्बंध ही सारे दुःखों की जड़ है। शरीर का सम्बंध न हो, केवल आत्मा ही आत्मा हो तो वह तो उसमें मग्न है, पर शरीर का सम्बंध होने से कितनी ही बाधायें होती हैं। रोग की बाधा, सम्मान अपमान की बाधा, और-और भी अनेक बाधायें हैं। खाली आत्मा हो तो वह क्या सोचेगा कि मेरी कीर्ति बढ़े, पर यह शरीर साथ, लगा है और यह ही लोगों की दृष्टि में है तो उसे निरखकर निरंतर यह विकल्प बनाये रहते हैं कि मेरा यश फैले, नाम हो, प्रशंसा हो। यह सब चक्र इस शरीर का सम्बंध होने से लगा है।

(१६२) आत्मा की पर से अबाधितता—भैया, तो यह जानें कि यह शरीर मेरे से बिल्कुल भिन्न पदार्थ है। मैं आत्मा अपनी सत्ता लिए हुए हूँ। मेरे आत्मा को किसी अन्य पदार्थ से कभी बाधा हो ही नहीं सकती। जितनी बाधा के जितने कष्ट लोग मानते हैं वे अपने आप में अपने विचार, अपने विकल्प बनाने के दुःख हैं। बाहरी पदार्थों से कष्ट किसी जीव को होता ही नहीं है, कैसे हो? जैसे आकाश में आग लगायी जा सकती है। क्या? कभी नहीं लगायी जा सकती। अमूर्त है वह तो ऐसे ही इस आत्मा में कोई कष्ट दे सकता क्या कि इसमें कोई कील ठोक दे या इसे कोई पीट दे, या इसे कोई छुड़ा दे या इसे कोई दाब दे? कुछ भी नहीं किया जा सकता। यह आत्मा अपने में पूर्ण सुरक्षित है लेकिन यही खुद अपने में ज्ञानविकल्प की तरंग उठाकर अपनी ही करतूत से, अपने ही मानसिक विचार से, वासना से, कुबुद्धि से अपने आपको दुःखी करता रहता है। इसको दुःखी करने वाला कोई अन्य पदार्थ हो ही नहीं सकता कभी। यह श्रद्धान जिसके नहीं है वह पद-पद पर कुछ से कुछ सोच-सोचकर दुःखी होता रहता है, ऐसे ही अज्ञानी पुरुष कभी जान ले कि परलोक है तो वह उसका निदान किया करता है—मैं राजा बनूँगा, मैं देव बनूँगा? अरे सोच तो यह सोच कि मैं आत्मा केवल आत्मा रह जाऊँ, जिसके साथ अन्य कोई सम्पर्क न रहे, बस मैं यह चाहता हूँ। इसको तो अन्य कुछ चाहिए ही नहीं, क्योंकि पर का सम्बन्ध बनाना कलंक है, कष्ट है।

(१६३) आत्मा के परिपूर्ण स्वरूपास्तित्व के परिचय में निःशाल्यता—जब यह आत्मा स्वयं परिपूर्ण अस्तित्व में है, जब यह अनन्त ज्ञानानन्द में रचा हुआ है तो इसको जरूरत क्या है पर पदार्थ की? किसी भी पदार्थ की सत्ता अधूरी नहीं होती है। जो है वह पूरा है। जैसे किसी मकान की अभी छत नहीं पड़ी तो लोग कहने लगते कि अभी तो यह अधूरा है, पर मकान तो कोई वस्तु ही नहीं है? वस्तु कोई भी अधूरी नहीं होती। क्या है? परमाणु। वस्तु क्या है? जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल एक-एक जो परमाणु है वह है वस्तु। तो कोई वस्तु अधूरी हो तो बताओ? कोई वस्तु आधा “है” बने और आधा “है” न बने ऐसा है नहीं। “है” आधा है ऐसा भी नहीं हो सकता और “है” आधा नहीं है ऐसा भी नहीं हो सकता। जो भी है वह पूरा है। मैं हूँ सो पूरा हूँ, परिपूर्ण हूँ। तो जब मैं अधूरा होता ही नहीं तो मेरे को फिर क्या पड़ा है बाहर कि जिसके लिए माया करें, निदान बांधे। ज्ञानी जीव निदान नहीं बांधते। वास्तविक तथ्य का ज्ञान होना यह बड़े ऊँचे भवितव्य की बात है। संसार में सुख दुःख है, पुण्य पाप है, वैभव मिलता है, सब कुछ ठीक है मगर शान्ति का आधार तो ज्ञान है। शान्ति का आधार वैभव नहीं। अगर शान्ति का आधार वैभव होता तो तीर्थकर चक्रवर्ती जैसे महापुरुष अपने इस वैभव को तजक्कर क्यों जाते? यहाँ तो यह सोच लेते कि हमारे निकट का पुद्गलस्कन्ध अगर कुछ कम हो गया तो मेरा बड़ा नुकसान है और वे बड़े तीर्थकर चक्रवर्ती सब कुछ त्यागकर भी अपने आत्मा में संतुष्ट

रहा करते थे । मार्ग यह है, करना कुछ पड़े, मगर सच्चा ज्ञान रहेगा दृष्टि में तब ही हम पार हो पायेंगे । अगर सम्यग्ज्ञान नहीं है अपने उपयोग में तो चाहे कुछ से भी कुछ मिल जाये, सांसारिक विभूति, समृद्धि कितनी भी हो जाये मगर पार नहीं हो सकते । सिद्ध भगवन्त का स्वरूप कैसे निरखा जाता? अब जैसे कि सिद्ध भगवान अकेले हैं, केवल आत्मा हैं, शुद्ध हैं, ऐसे ही केवल आत्मा मैं अभी यहां हूँ सबसे निराला केवल अपना ही अस्तित्व रखने वाला, यह मैं आत्मा अब भी अकेला ही हूँ, अपने ही इस सत्त्व से हूँ । दुकेला होना तो खराब है, पाप है, संसार है, कष्ट है ।

(१६४) आत्मा का सच्चा आराम—अपने को अकेला विचारें, जैसा कि अपना खुद में स्वरूप है तो धीरता जगेगी, ज्ञानबल बढ़ेगा, शान्ति मिलेगी । ऐसा जीवन में अगर रोज रोज १०-५ मिनट आत्मा के स्वरूप का ध्यान न किया जाये तो यह जीवन किस लिए बिताया जा रहा है? उत्तर तो दीजिए । जीवन बेकार है । यदि आत्मा की सुध का कोई उपाय नहीं बनाया जा रहा तो २४ घंटे में १०-१५ मिनट तो ध्यान आना चाहिए कि मैं सारे जगत से निराला हूँ । जैसे कोई मजदूर दिन भर से तेज परिश्रम करके आखिर आधा पौन घंटा काम छोड़कर, विकल्प छोड़कर, पैर पसारकर, ढीला ढाला पड़कर आराम तो कर लेता है तो ऐसे ही दिन रात विकल्प करके, विकल्प का परिश्रम करके, अपने आत्मा को व्यथित करके जो एक थकान होती है, बेचैनी होती है तो भाई इन २४ घंटों में १०-१५ मिनट को तो सारे विकल्प छोड़कर, अपने शरीर को ढीला ढाला छोड़कर, उपयोग में आत्मस्वरूप को निहार कर आराम तो कर । सच्चा आराम गद्दे में पड़ने में नहीं है, सच्चा आराम सारे जगत से निराले अपने ज्ञान मात्र परमात्मस्वरूप की दृष्टि करने और यहां ही ज्ञान को बनाये रहने में है । जिसके शल्य लगी है वह बड़े कोमल गद्दे में भी पड़ा हो तो भी क्या उसे चैन मिलती है? अरे वह तो बेचैन रहता है । और जो निःशल्य है, जिसको आत्मा का ज्ञानप्रकाश मिला है वह कूड़े में पड़ा हो तो भी सुखी रहता है । तो जो निःशल्य हो वही व्रती बन सकता है । शल्यवान पुरुष व्रती नहीं कहला सकता ।

(१६५) व्रती की मिथ्याशल्यरहितता—तीसरा शल्य है मिथ्याभाव । पदार्थ अन्य प्रकार है, मान्यता अन्य प्रकार बन रही है, यह कहलाता है मिथ्यात्व । जगत के जितने पदार्थ हैं वे सब भिन्न हैं, विनाशीक हैं, पर यह अज्ञानी मानता है कि जो मेरा वैभव है वह भिन्न कहां है? वह तो मेरा खास है । मकान, दूकान, कारखाना, पैसा ये सब जो कुछ मिले हैं, सब मेरे से कहां बिछुड़े हैं, मेरे ही तो हैं । ये किसी दूसरे के कैसे हो सकते? ऐसी जो श्रद्धा बनी है यह है मिथ्यात्व । ये सर्व पदार्थ विनाशीक हैं, औरों के लिए तो विनाशीक समझ में आते हैं, ऐसा समझते कि जो मिले हैं सो नष्ट हो जायेंगे, पर खुद को जो प्राप्त हुआ है उसके बारे में यह श्रद्धा नहीं बनती कि यह भी नष्ट हो जायेगा । मुख से कहना और बात है, भीतर में भावभासना होना और बात है । यह है मिथ्याभाव । मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञान का दुश्मन है । उसे ज्ञान की कोई चीज भाती ही नहीं, उसे ज्ञानोपदेश न रुचेगा, ज्ञान का स्थान न रुचेगा, ज्ञान का कोई कार्यक्रम रुचेगा ही नहीं । उसे तो ये बाह्य ढेला पत्थर ही कुछ है, क्योंकि अज्ञान छाया है, मिथ्यात्व का पिशाच चढ़ा है । यह मिथ्यादर्शन बहुत बड़ा शल्य है । जिसके मिथ्यात्व है वह व्रती नहीं हो सकता । अब कुछ सयुक्तिक चर्चा सुनिये—सूत्र में दो बातें कही गई—(१) जो निःशल्य है सो व्रती है—तो एक शंकाकार कहता है कि यह तो कोई तुक न मिली कि निःशल्य व्रती कहलाता

है। जो निःशल्य है सो तो निःशल्य कहलायेगा, ब्रती कैसे? और जो ब्रती है सो ब्रती कहलायगा, वह निःशल्य कैसे कहलायेगा? निःशल्य को ब्रती कहना यह तो बेतुकी बात है। जो डंडा पकड़े हो सो डंडा वाला कहलायेगा, वह छतरी वाला कैसे अथवा पुस्तक वाला कैसे? ऐसे ही निःशल्य और ब्रती की बात है। निःशल्य की बात और है, ब्रती की बात और है। इस शंका का उत्तर यह है कि निःशल्य शब्द का अर्थ निःशल्य है, ब्रती नहीं है और ब्रती शब्द का अर्थ ब्रती है निःशल्य नहीं यह शब्दार्थ पदार्थ तो ठीक है, किन्तु इन दोनों में कार्यकारण भाव है। जो निःशल्य होगा वही ब्रती हो सकता है, दूसरा नहीं। जिसके शल्य है वह ब्रती नहीं है। यह बात यहाँ कही जा रही है।

(१६६) सशल्य से निःशल्य होने का एक उदाहरण—सशल्य व निःशल्य होने में पुष्पडाल मुनि का एक कथानक बहुत प्रसिद्ध है। पुष्पडाल जब गृहस्थावस्था में थे तो उनके यहाँ एक दिन उनके गृहस्थकाल के मित्र वारिषेण मुनि का आहार हुआ। वारिषेण मुनि भी उसी नगरी के थे। मुनि अवस्था में जंगलों में रहते थे। सो आहार करने के बाद जब जंगल जाने लगे तो पुष्पडाल उन्हें पहुंचाने गए। धीरे-धीरे करीब १ मील जगह तय कर गए, पर न तो पुष्पडाल ने लौटने की बात कही और न वारिषेण महाराज ने वापिस होने की बात कही। पुष्पडाल किन शब्दों में कहें कि हम वापिस लौटना चाहते? कुछ समझ में न आया सो एक तालाब को देखकर बोले—महाराज यह वही तालाब है जहाँ बचपन में हम आप स्नान किया करते थे। यहाँ से नगर करीब १ मील दूर है। तो इसका अर्थ यह था कि मैं एक मील तक पहुंचाने आ गया हूँ और वापिस लौटने की बात महाराजश्री बोल दें। इतने पर भी जब न बोले तो कुछ आगे चलकर एक बगीचे को देखकर बोले—महाराज यह वही बगीचा है जहाँ बचपन में हम आप खेलने आया करते थे। यह नगर से करीब २ मील है इसका भी अर्थ वही था कि अब हम दो मील तक पहुंचाने आ गए, वापिस होने की आज्ञा दें, पर वारिषेण महाराज ने वापिस लौटने की कुछ बात न कहा। कुछ दूर और गए तो वह जंगल भी मिल गया जिसमें वह मुनिराज रह रहे थे। वहाँ से भी वापिस लौटने की बात न कही। कुछ प्रसंग पाकर भाव उमड़े और वही पुष्पडाल भी मुनि बन गए। अब बन तो गए मुनि, पर उनको यह शल्य बराबर बना रहा कि मैं अपनी स्त्री से बताकर भी नहीं आया, पता नहीं हमारी उस स्त्री का क्या हाल होगा? सुनते हैं कि उनकी स्त्री कानी भी थी, पर उसी की याद बराबर बनी रही। आखिर वारिषेण महाराज ने पुष्पडाल के मन की सब बात समझ ली और कहा तो कुछ नहीं, पर एक उपाय रचा पुष्पडाल का शल्य निकालने का, क्या कि वारिषेण महाराज ने अपनी माता के पास खबर भेजी कि कल के दिन दोपहर में हम घर आवेंगे, आप सभी रानियों को खूब सजाकर रखना। यह समाचार पाकर वह माता बड़ी हैरान हुई। सोचा कि क्या दुर्बुद्धि छा गई मेरे बेटे में जो घर आना विचार। कुछ सोचकर मन ही मन—अच्छा देखा जायेगा। दूसरे दिन उस माता ने सभी रानियों को खूब सजा दिया, (शायद ३२ रानियाँ थीं) और दो सिंहासन पास ही पास रख दिये, एक स्वर्ण का और एक काठ का इस ख्याल से कि अगर बेटे के मन में कुबुद्धि आ गई होगी तो स्वर्ण के सिंहासन पर बैठ जायेगा और यदि कोई और बात होगी तो काठ के सिंहासन पर बैठ जायेगा। आखिर हुआ क्या कि जब पहुंचे वारिषेण महाराज और पुष्पडाल तो वारिषेण महाराज तो काष्ठासन पर बैठ गये और पुष्पडाल को सुवर्णासन पर बैठा दिया। पुष्पडाल

वहाँ का सारा ठाठ देखकर दंग रह गए। इस विचारधारा में पड़ गए कि अरे ऐसी-ऐसी सुन्दर ३२ रानियां, ऐसा-ऐसा ठाठ छोड़कर ये मुनि हुए और यह मैं एक कानी स्त्री का इतना ख्याल बनाये रहता, धिक्कार है मेरे जीवन को। बस क्या था? ज्ञान जग गया, वह शल्य दूर हो गया जो उनकी आत्मसाधना में बाधक बन रहा था। वारिष्ण महाराज तो ऐसा चाहते ही थे जिससे इस प्रकार का उपाय रचा था। जब पुष्पडाल मुनि का वह शल्य निकला तब धर्मध्यान में उनका चित्त जमा।

(१६७) निःशल्य पुरुष के ही ब्रताधिकारपना—यहाँ कह रहे थे कि जहाँ शल्य है वहाँ ब्रत नहीं, जो ब्रती है उसमें शल्य नहीं। बाहर में दृष्टि डालकर देख लो, शान्ति कहीं बाहर से न मिलेगी। शान्ति मिलेगी अपने आपके अन्तःस्वरूप में बसे हुए ज्ञानानन्द स्वभाव में। तन्मात्र ही अपने आपको भावें तो उद्धार है, अन्य किसी बात से इस जीव का उद्धार नहीं। जरा ध्यान देकर कुछ सोचो तो सही कि आज हम आप कितनी श्रेष्ठ स्थिति में हैं—मनुष्यपर्याय मिली, श्रेष्ठ कुल मिला, सब श्रेष्ठ समागम मिले, सब प्रकार के आराम के साधन मिले, धर्म का कुछ सिलसिला भी चल रहा है। ऐसे सब प्रसंगों को पाकर, अब इस मानवजीवन को व्यर्थ नहीं खोना है, अपने लिए कोई हित का उपाय बनाना है। वैसे तो बहुत से लोग रोज-रोज मंदिर भी आते, धर्मस्थानों की भी बड़ी-बड़ी व्यवस्थायें करते, लोग भी धर्मात्मा समझते, पर कोई इसका सही निर्णय नहीं दे सकता कि हाँ वह वास्तव में धर्म कर रहा है। पता नहीं, ये सब कुछ धार्मिक क्रियाकाण्ड करके भी उसे अपनी इज्जत प्रतिष्ठा की मन में चाह हो। तो बताओ कहाँ रहा वह धर्म? एक बाहरी दिखावा भर का धर्म रहा। इस जगत में सब एक दूसरे की झूठी प्रशंसा करते हैं, गलती करते हुए भी अपनी गलती नहीं महसूस करते। कुछ धर्म कार्य करके अपने को मानते कि मैं बड़ा धर्मात्मा हूँ और इसके फल में मुझे मोक्ष मिलेगा, मगर यह सब उनकी भूल है। जिसको अपनी आत्मा के सहज स्वरूप का बोध नहीं है, मेरी क्या परिणति है, क्या स्वरूप है और क्या धर्म है? उसे धर्ममार्ग रंच मात्र भी नहीं मिल सकता। तो कहने का तात्पर्य यह है कि इतना तो कष्ट कर रहे, साथ ही थोड़ा यदि ज्ञान की बात और जान लें, प्रकाश पालें तो इनका यह सारा उद्यम भी इनको हितमार्ग में बढ़ने के लिए सहयोगी बन जायेगा। परमात्मस्वरूप का बोध हुए बिना किसी को धर्ममार्ग मिल नहीं सकता, इससे आत्मा को जानने के लिए चाहे अपना सर्वस्व अर्पित करना पड़े, फिर भी अर्पण करने को तैयार रहें। तो जो आत्मज्ञानी हैं वे निःशल्य हैं और जो निःशल्य है सो ही ब्रती है। अब यहाँ जिज्ञासा होती है कि ब्रती के विषय में जो वर्णन किया है कि वे तीन शल्य से रहित होना, हिंसा आदिक पापों के अभाव से अहिंसा आदिक में परिणाम बढ़ना, परिग्रह से निरपेक्ष होना, समस्त आगार अर्थात् घर के सम्बंध को तजना सो वही ब्रती कहलाता है या और कोई गृहस्थ भी ब्रती हो सकता है, इस जिज्ञासा के समाधान में कहते हैं कि इन हिंसा आदिक पापों की विरति के एकदेश और सर्वदेश के भेद से ये ब्रती दो प्रकार के कहे गये हैं—उनमें एक गृहस्थ है और एक मुनि हैं। इसी बात को इस सूत्र में कहते हैं।

## सूत्र 7-19

अगार्यनगारश्च ॥७-१९॥

(१६८) भावागार होने न होने के आधार पर ब्रती के भेद—ब्रती दो प्रकार के गृहस्थ और मुनि । गृहस्थ को यहाँ अगारी कहा गया है । अगार का अर्थ है घर । अगार का घर अर्थ कैसे निकला ? तो अगार शब्द बना है अङ्ग धातु से । आश्रय चाहने वाले मुनि के द्वारा जो ग्रहण किया जाये, अंगीकार किया जाये उसे आगार कहते हैं । वह है घर । और जिसके अगार नहीं है उसे अनगार कहते हैं । यहाँ एक शंका होती है कि जिसके घर हो, जो घर में रहता हो वह गृहस्थ है । जो घर में नहीं रहता वह मुनि है, ऐसा नियम बनाने से तो दोष आयगा । कैसा? यदि कोई गृहस्थ किसी कारण से जंगल में चला गया तो वहाँ वह घररहित है तब तो उसे मुनि कहना चाहिए । अथवा कोई मुनि धर्मशाला में, मंदिर में या किसी घर में निवास करे तो उसे गृहस्थ कहना चाहिये । तो यह नियम तो न बना कि जिसके घर हो वह गृहस्थ है । जो घर में नहीं है वह मुनि है । इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यहाँ अगार का अर्थ भीत वाला घर न लेना, किन्तु भाव का अगार लेना । जिसके भाव में घर बसा है उसे कहते हैं गृहस्थ, अगारी और जिसके भाव में घर नहीं बसा उसे कहते हैं अनगार । चारित्रमोह का उदय होने पर घर के सम्बन्ध के प्रति जिसका परिणाम नहीं निवृत्त हुआ, घर से जो नहीं हट सकता ऐसा पुरुष तो अगारी है । वह चाहे किसी कारण से वन में भी चला जाये अथवा कुछ धार्मिक भी हो, जिसको विषयों में तृष्णा लगी है वह जंगल में चला जाये तो भी अभी घर से उसका परिणाम हटा नहीं है, संस्कार मिटा नहीं है । अभिप्राय पूर्वक दृढ़तापूर्वक उसका अलग होने का निर्णय नहीं है, इसलिए वह अगारी है और जिसके अगार नहीं अर्थात् भाव में घर नहीं उसे अनगार कहते हैं ।

(१६९) एकदेश ब्रत पालन करने पर भी ब्रतित्व का उपदेश—अब एक शंका और होती है कि जो गृहस्थ ब्रती है उसके समस्त ब्रत नहीं है । जब समस्त ब्रत नहीं हैं तो उसको अब्रती कहना चाहिए । इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यहाँ ब्रती का कथन नैगम, संग्रह और व्यवहाररूप से है । जैसे कि कोई नगर के किसी एक कोने में रहता है और उससे पूछा जाये कि तुम कहाँ रहते हो ? तो वह कहता है कि नगर में रहते । अब नगर तो है कोई मील दो मील भर का, उस सबमें कहाँ रहेगा कोई? तो नगर के एकदेश में रहने पर भी जैसे उसे नगरवासी कहते हैं इसी प्रकार समस्त ब्रत न होने पर भी कुछ नियम किये तो भी वह ब्रती कहलाता है अथवा जैसे कोई ३२ हजार नगरों का अधिपति है तो वह सार्वभौम राजा है । और यदि कोई एक देश का ही पति है, राजा है तो क्या वह राजा नहीं कहलाता? अर्थात् कहलाता । इसी प्रकार १८ हजार शील और ८४ लाख उत्तर गुण का जो धारी है वह तो अनगार है, महाब्रती है, पर संयमासंयम गृहस्थ भी अणुब्रतधारी होने से क्या ब्रती नहीं कहलाता? कहलाता ही है । इस सूत्र में यह बताते कि जिसके भाव घर हैं वह गृहस्थ है और जिसके भाव घर नहीं है वह मुनि है । अब अगारी का लक्षण कहते हैं—

## सूत्र 7-20

अणुब्रतोऽगारी ॥ ७-२० ॥

(१७०) ब्रतित्व की दृष्टि से अगारी का स्वरूप—जिसके अणुब्रत हुए है वह अगारी होता है, गृहस्थ श्रावक कहलाता है । ब्रतों में अणुपना कैसा, जिससे कि अणुब्रत नाम कहलाये? उत्तर—समस्त सावद्य से वह हटा

नहीं है, इस कारण उसके ब्रत को अणु कहते हैं। पूरा पाप से न हटने के कारण उसके ब्रत का नाम अणु है। तब फिर यह किससे हटा हुआ है? यदि समस्त पापों से नहीं हटा तो किससे हटा है। उत्तर—दो इन्द्रिय आदिक जीवों की हिंसा से निवृत्त हुआ है मन से, बचन से, काय से। अब यह ज्ञानी जीव दो इन्द्रिय आदिक जंगम प्राणी का घात नहीं करता, घात से निवृत्त हो गया। उसका अहिंसक अभिप्राय बन गया, नियम हो गया। यह तो अहिंसा विषयक अणुब्रत है। और सत्यविषयक अणुब्रत क्या है गृहस्थ के कि स्नेह के, द्वेष के, मोह के उद्रेक से जो असत्य कथन होता है उस असत्य कथन से निवृत्त हो गया, ऐसी असत्य वाणी से उसका आदर नहीं रहा तो वह लक्षणीय असत्याणुब्रत का धारी है। तीसरा ब्रत हैं अचौर्याणुब्रत। दूसरे पुरुषों को पीड़ा पहुंची हो या राजा का भय हो या किसी कारण से उसे छोड़ना ही सोचा हो कि इस चीज को छोड़ना ही चाहिए, किसी तरह छूट गया हो या किसी के भूल से गिर गया हो तो वह अदत्त है, किसी का दिया हुआ तो नहीं है। तो ऐसे अदत्त धन के प्रति आदर न रहना सो यह अचौर्याणुब्रत है। ब्रह्मचर्याणुब्रत—विवाहित या जिसके साथ विवाह न हुआ हो ऐसे अन्य स्त्रियों के संग से विरक्त रहना यह ब्रह्मचर्याणुब्रत है। ५ वां अणुब्रत है परिग्रहपरिमाणुब्रत। धन धान्य खेत आदिक की जितनी अपनी इच्छा से सीमा ले ली है उस सीमा को न तोड़ना और उस परिमाण किए हुए वैभव में ही अपना निर्वाह करना यह ५वां परिग्रह परिमाणाणुब्रत है। इस प्रकार जिसके ये ५ अणुब्रत पाये जाते हैं वह अगारी है, गृहस्थ श्रावक है। अब जिज्ञासा होती है कि जो ५ पापों से विरक्ति बतायी गई है, जिसने ऐसी स्थूल विरति पायी है उस श्रावक के क्या इतनी ही विशेषता है या अन्य भी कुछ विशेषता है? अन्य विशेषता अर्थात् शील बताने के लिए सूत्र कहते हैं।

## सूत्र 7-21

दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकओषधोपवासोपभोगपरि-  
भोगपरियाणातिथिसंविभागब्रतसंपन्नश्च ॥ ७-२१ ॥

(१७१) दिग्ब्रत और देशब्रत का निर्देश—वह अणुब्रती गृहस्थ श्रावक ७ शीलों से सम्पन्न होता है। तीन गुणब्रत और ४ शिक्षाब्रत इनका नाम शील कहलाता है, क्योंकि इन ७ ब्रतों में प्रथम तीन तो हैं गुणब्रत। गुणब्रत उसे कहते हैं जो ब्रती के गुणों की वृद्धि में उपकारक हो। वे तीन हैं—(१) दिग्ब्रत, (दे) देशब्रत और (३) अनर्थदण्ड ब्रत। पाप आरम्भ के त्याग के लिए जीवनपर्यन्त दिशावों में सीमा रख लेना, उससे बाहर आना, जाना आदिक सम्बंध न रखना सो अहिंसा दिग्ब्रत है। दिशायें कहते हैं आकाश के प्रदेशों को। उस ओर के आकाश प्रदेश जहाँ से सूर्य निकलता है उसे कहते हैं पूर्व दिशा। और, वह सूर्य गोल घूमकर उसके सीध में पहुंच जाये तो उसे पश्चिम दिशा कहते हैं। जितना पूर्व और पश्चिम के बीच है वह कहलाता दक्षिण और जितना पश्चिम और पूर्व के बीच हो वह कहलाता उत्तर। तो सर्व दिशावों में आजीवन व्यापार आदिक का नियम कर लेना कि इससे बाहर मेरा सम्बंध न रहेगा, यह हुआ दिग्ब्रत। देशब्रत—दिग्ब्रत की मर्यादा के भीतर और थोड़ा क्षेत्र, थोड़े समय के लिए करने पर देश ब्रत कहलाता है। जिसमें यह भाव होता है कि मैं इतने समय तक इससे बाहर आने जाने का सम्बंध न रखूँगा। तो इसे कहते हैं देशब्रत। दिग्ब्रत और देशब्रत में जितनी सीमा

रखी है उस ब्रत के समय उस सीमा के बाहर वह पाप से रहित है ।

(१७२) अनर्थदण्डविरति के लक्षण व प्रकार—अनर्थदण्डब्रत अनर्थ में अर्थात् अपना कोई काम नहीं है, अपना कोई भला नहीं होना है, उपकार नहीं होना है, फिर भी पाप के साधनों से सम्बन्ध करना, प्रयोग करना सो अनर्थ दण्ड है । इन सबसे विरक्त होना सो ब्रत कहलाता है । इस सूत्र में विरति शब्द पूर्व में कहने से शब्द के साथ लगेगा । जैसे दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्डविरति । समस्त अनर्थदण्डों के साथ विरति शब्द का प्रयोग होगा । यहाँ शंकाकार कहता है कि ७ वे अध्याय के इस पूर्व प्रकरण में सब जगह प्रथम सूत्र में कहे गए विरति शब्द की अनुवृत्ति ली जायेगी । सो विरति की अनुवृत्ति होने से अपने आप विरति सिद्ध हो गया । फिर इस २१ वें सूत्र में विरति शब्द रखने की जरूरत नहीं है । इसके उत्तर में कहते हैं कि यदि सूत्र में विरति शब्द न दें तो यहाँ किस किसके साथ विरति शब्द लगाना चाहिए? यह अर्थ न मिलेगा । उसका अर्थ सामान्य विरति होगा और यहाँ विरति शब्द देने से सबमें नाम बन जाता है—जैसे दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्डविरति । अनर्थदण्ड ५ तरह के होते हैं—(१) अपध्यान, (२) पापोपदेश, (३) प्रमादचर्या, (४) हिंसादान और (५) दुश्रुति । दूसरे जीव का जय पराजय सोचना, किसी के वध बंध का विचार करना, किसी का कोई अंग छेदना, किसी का धन हरना अपध्यान नाम का अनर्थदण्ड है, क्योंकि ऐसा विचार करने वाले पुरुष को इस विचार से क्या लाभ होता? दूसरे का बुरा विचारने से इस आत्मा को क्या लाभ होता, चाहे कितनी ही किसी ने बाधा दी हो, फिर भी उसका बुरा विचारना ठीक नहीं है, क्योंकि बुरा विचारने से उसका बुरा न होगा, बल्कि स्वयं का परिणाम मलिन करने से स्वयं के परिणाम से स्वयं का बिगड़ होगा । तो किसी का भी बुरा न विचारना यह है अपध्यान अनर्थदण्डविरति । पाप का उपदेश न करना । जैसे इस देश में पशु को खरीदकर अमुक जगह जाकर बेचा जाये तो वह लाभ देता है, ऐसे पापयुक्त वचन बोलने को पापोपदेश कहते हैं । हिंसादान—किसी शिकारी जाल वाले को यह कहना कि इस वन में पक्षी बहुत हैं । इस वन में हिरण आदिक रहते हैं, ये वचन पापोपदेश हैं, क्योंकि उसका प्रयोग तो शिकारी लोग उसका वध करने से मानेंगे, इसी प्रकार खेती आदिक के प्रयोगात्मक युक्तियाँ बताना, इस तरह खोदना, इस तरह जलाना, इस तरह अग्नि लगाना आदिक के आरम्भ इन उपायों से करना चाहिए, यह कहना आरम्भिक उपदेश है । प्रमादचर्या—कुछ प्रयोजन नहीं है फिर भी वृक्षादिक को छेदना, भूमि को कूटना, पानी बखेरना आदिक सावधकर्म प्रमादचर्या कहलाते हैं । हिंसादान—जैसे शस्त्र, अग्नि, बरछी, ढाल, तलवार आदिक जो-जो भी हिंसा के उपकरण हैं उनको देना हिंसा दान है । दुश्रुति—हिंसा में राग बढ़ाना, दुष्ट कथाओं को सुनाना, खोटी शिक्षा करना आदिक व्यापारों को अशुभ दुश्रुति कहते हैं । ऐसे इन ५ अनर्थदण्डों से बचना अनर्थदण्डविरति कहलाता है ।

(१७३) सामायिक एवं प्रोष्ठोपवास नाम के शिक्षा ब्रतों का निर्देश—उक्त कथन में तीन गुणब्रत का स्वरूप सुना, अब शिक्षाब्रतों का स्वरूप सुनिये—सामायिक नाम है समता परिणाम का । नियत देश में नियतकाल तक प्रतिज्ञा की हुई सामायिक में रहकर अविकार आत्मस्वरूप के अनुभव का पौरुष करना सामायिक है । जैसे दिग्विरति में मर्यादा के बाहर न चलने से वह श्रावक सीमा बाह्य क्षेत्र के प्रति महाब्रती की तरह है, देशविरत में क्षेत्र मर्यादा के बाहर गृहस्थ महाब्रती की तरह है, ऐसे ही सामायिक में आत्माभिमुखता के समय में वह महाब्रती

की तरह है, पर दिग्ब्रती देशब्रती व सामायिक शिक्षाब्रती श्रावक वस्तुतः कहों महाब्रती न कहलायेगा, संयमी न कहलायगा, क्योंकि संयम का घात करने वाले कर्म का उदय उसके चल रहा है, फिर भी महाब्रत जो कहा जाता है वह उपचार से कहा जाता है। हिंसा आदिक बाह्य क्रियाओं में जिसकी बुद्धि आसक्त नहीं है किन्तु अंतरंग में संयम का घात करने वाले कर्मों का उदय होने से सर्वदेश से विरति नहीं है तो भी जितने देश में, जितने काल में वह इस आरम्भ में रहता है उससे बाहर के देशकाल में निरारम्भ होने से उसके महाब्रत का उपचार किया जाता है तभी तो भाव महाब्रतों की अन्तःस्थिति न होने पर भी निरतिचार द्रव्य महाब्रत के धारी, निर्ग्रन्थलिङ्गधारी कोई अभव्य पुरुष भी हो, उसके ११ अंग का अध्ययन हो जाता है, महाब्रत का पालन भी हो जाता है फिर वह नवग्रैवयक तक उत्पन्न भी होता है। उपवास कहते हैं अपने धर्मध्यान के लिए आत्मा के लक्ष्य पूर्वक रहने को। उपवास शरीर का संस्कार नहीं होता, शृंगार भी नहीं होता, स्नान भी नहीं होता, आभरण पहिनना आदिक भी नहीं होता, तो ऐसी स्थिति में यह श्रावक साधु के निवास क्षेत्र में रहकर, चैत्यालय में रहकर या अपने ही घर में जो एक अलग स्थान बनाया है, जिसमें धर्मध्यान किया जाने का संकल्प है वहाँ बैठकर, रहकर, धर्मकथायें सुनकर, चिंतन कर जिसका मन पवित्र हो गया, ऐसा पवित्र चित्त होकर अपने आत्मा के निकट निवास करे वह निरारम्भ श्रावक वृत्ति है—यह कहलाता है उपवास। उप मायने निकट वास मायने रहना। प्रोषध एकाशन को कहते हैं, प्रौषधपूर्वक व प्रोषधपरक उपवास को प्रोषधोपवास कहते हैं।

(१७४) शुभास्त्रव के प्रकारण में मोक्षमार्गपात्रतानुकूली अणुव्रतों का वर्णन—इस सप्तम अध्याय में आस्त्रव का प्रकरण है। किस भावकर्म से किस द्रव्यकर्म का आस्त्रव होता है यह बात तत्वार्थ सूत्र के छठवें और ७वें अध्याय में कही गई है। छठवें अध्याय में आस्त्रव का सामान्य वर्णन था। यहाँ पुण्यास्त्रव का वर्णन चल रहा है। ब्रत करने से कर्मनिर्जरा नहीं किन्तु पुण्य का आस्त्रव है और शुद्ध आत्मा का ध्यान करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। यद्यपि जो ब्रत करता है उसके भी शुद्ध ध्यान कुछ-कुछ साथ है और अंतरंग में सम्यग्दर्शन और पापनिवृत्ति का परिणाम है इसलिए वहाँ भी निर्जरा चलती है। पर ब्रत क्रिया करने से निर्जरा नहीं किन्तु पाप से निवृत्ति हो गई है, उसका कारण निर्जरा है। जैसे मानो कि राग के १०० अंश हैं और राग के १५ अंश निकलने पर सम्यक्त्व हुआ और उसके बाद मानो २५ अंश और निकले तब अणुव्रत हुआ अर्थात् अणुव्रती के जो कुछ राग निकल गया, कुछ राग रह गया, यह स्थिति है श्रावकों की। अब ब्रतों में जो प्रवृत्ति चलती है दया करना, सच बोलना, ऐसी जो शुभ प्रवृत्ति चलती है उसका कारण है वह बचा हुआ राग, और जो राग निकल चुका था, न रहा, उसका काम है कि पाप से हट जाना। तो पाप से जो हट गया उससे तो है निर्जरा और शुभ क्रियाओं में जो लग रहा उससे है पुण्य का आस्त्रव। इसी शुभ आस्त्रव के प्रकरण में इस सूत्र में श्रावक के अणुव्रतों के पोषक शील ब्रतों का वर्णन चल रहा है।

(१७५) अणुव्रतपोषक सप्त शीलों का निर्देश—दिग्ब्रत, देशब्रत अनर्थदण्डब्रत ये तीन गुणब्रत हैं अर्थात् दिशाओं की मर्यादा कर लेना कि मैं इन चारों दिशाओं में इतने से बाहर किसी दूसरे देश से लेनदेन न रखूँगा, कोई सम्बन्ध न रखूँगा, आना जाना न रखूँगा, यह दिग्ब्रत कहलाता है। इसका प्रयोजन यह है कि यह श्रावक अपनी सीमा के अन्दर ही विकल्प विचार करेगा, आना जाना रखेगा, इसके बाहर से सम्बन्ध न रहेगा तो

निराकुलता रहेगी, धर्मसाधना में बढ़ेगा । देशब्रत में उस दिग्ब्रत की मर्यादा के अन्दर भी और छोटी मर्यादा रख ली कुछ समय नियत कर । जैसे दसलक्षण पर्व के दिनों में अपने नगर से बाहर न जाना, ऐसे ही कुछ और मर्यादा रख ले वह है देशब्रत । उसका भी यही प्रयोजन है कि विकल्प तरंग इच्छायें न उठें । अनर्थदण्डब्रत—जिस काय के करने से आनन्द में अटक आ पड़े और कर्मों का बंध होता है उनको त्यागना यह अनर्थदण्डब्रत है । जैसे व्यर्थ के पाप के उपदेश करना, हिंसा की चीज दे देना, अधिक जल बखेरना, चलते-चलते पत्तों को छेद देना, इनमें मेरा कुछ अटका नहीं है फिर भी करना अनर्थदण्डब्रत है । यों अनर्थदण्ड से विरक्त होना ब्रत है । ४ शिक्षाब्रत हैं, (१) सामायिक करना, नियत समय पर नियत काल में आत्मचिन्तन करना, (२) प्रोषधोपवास करना अर्थात् अष्टमी को उपवास किया तो सप्तमी को एकाशन, नवमी को एकाशन, फिर दशमी को उपवास यह प्रोषधोपवास है । इसके अतिरिक्त दो और ब्रत हैं । (३) भोगोपभोग परिमाण और (४) अतिथिसम्बिभागब्रत । इन दोनों ब्रतों का वर्णन आगे आयेगा ।

(१७६) भोगोपभोगपरिमाणब्रतनामक शिक्षा ब्रत का विवरण—भोगोपभोग परिमाणभोग और उपभोग की चीजों का परिमाण कर लेना । भोग कहते हैं उसे जो एक बार भोगने में आ जाये, फिर दुबारा न भोगा जा सके । जैसे भोजन, पानी, तेल मालिश या नहाना जिस जल से नहा लिया उस नहाये गए जल से फिर नहीं नहाया जाता तो यह सब भोग कहलाता है । उपभोग वह कहलाता कि भोगे छोड़े फिर भी वही चीज भोग सकता है । जैसे रोज-रोज कपड़े पहनते हैं, वही घर है, वही आभरण है । जिसे रोज-रोज बर्तते हैं । तो ये उपभोग की चीजें कहलाती हैं । तो भोगोपभोग दोनों का परिमाण कर लेना, मैं इतनी चीज रखूँगा इससे अधिक नहीं । जिनके परिमाण नहीं है उनके दिल का कहाँ टिकाव नहीं हो पाता । प्रथम तो परिग्रह का परिमाण होना चाहिए । ५ लाख, १० लाख जो भी उचित समझे, उतने का परिमाण कर लेना । परिमाण होने से उसके चित्त में तृष्णा की दाह नहीं रहती । यों तो लखपति हैं तो करोड़पति होने का भाव बनता, करोड़पति हैं तो अरबपति होने का भाव बनता, फिर और भी आगे के भाव बनते, बस इसी तृष्णा की दाह में जलते हुए सारा जीवन यों ही व्यर्थ खो दिया जाता, उसका कोई सही उपयोग नहीं हो पाता । इस मानव जीवन का सही उपयोग हे धर्मपालन में । धर्मपालन की दृष्टि रहे इसी लिये गृहस्थ को परिग्रह परिमाण करना बताया गया । भोगोपभोग में परिमाण रखना कि मुझे इतनी ही चीज रखना, उससे आगे नहीं । आज जो प्रायः करके सब दुःखी नजर आते हैं उसमें कारण यही है कि लोगों के चित्त में परिमाण की भावना नहीं है । अब जो बात कभी घर में होती ही न थी, वे होने लगी । रेडियो आया, फिर टेलीविजन हुआ, फिर फ्रीज हुआ, बिजली के पंखे हुए, पंखों से भी काम न चला तो कूलर लगवाये, कपड़ा धोने की मशीन हुई, आराम करने के समय कोई शरीर दाबने वाला न हुआ तो उसकी भी मशीन हो गई । भला बताओ ऐसा कौनसा काम बाकी रह गया जो मशीनों से न होता हो? अब परिग्रह का परिमाण न होने से मन में एक ऐसी लालसा बनी रहती कि अभी अमुक चीजें चाहिएँ, अमुक चाहिएँ । भला बताओ इसी इसी में चित्त बसा रहने से उसे आत्मा की सुध कहाँ से हो सकती? जिनका जीवन किसी न किसी कष्ट में बना रहता है ऊपरी कष्ट में, अज्ञान के कष्ट में नहीं किन्तु शारीरिक कष्ट, धन वैभव का कष्ट, परिजन का कष्ट । तो उस सुखी आदमी से वे अधिक अच्छे हैं जिनको ज्ञान जगा है

और उन कष्टों में अपने आत्मा का स्मरण करता है और परमात्मा का स्मरण करता है। बाहर से कष्ट होने पर भी भीतर में उसको शान्ति है और एक को बाहर में कोई कष्ट के साधन नहीं है, बड़ा ठंडा मकान है, बहुत नौकर चाकर हैं, गद्दों तकियां पड़े हैं, ये सब आराम हैं मगर अज्ञान बसा है इससे चित्त में उसे शान्ति नहीं मिल सकती। शान्ति का आधार ज्ञान है, बाहरी चीज का मिलना नहीं। तो जिसको अपने आत्मा को पवित्र करने का ध्यान है वह बाहरी भोग। और उपभोग की सामग्री में चित्त न रमायेगा। तो परिग्रह का परिमाण रखें।

(१७७) पञ्च प्रकार के अभक्ष्यों की आजीवन हेयता—भोग की चीजों में मुख्य हैं खाने पीने की चीजें। ५ चीजें तो ऐसी हैं कि वे तो जीवन में कभी लेनी ही न चाहिएँ। वे क्या-क्या हैं—(१) त्रसघात—जिसमें त्रस का घात होता हो, जैसे फूलगोभी, शराब, मांस, अंडा, बाजार की सड़ी गली जलेबी, दही अचार मुरब्बे वगैरह। (२) दूसरी चीज है बहुघात अनन्त स्थावरघात—जैसे आलू अरवी, गीली हल्दी, गीली अदरख आदि ऐसी चीजें जिन्हें ब्रती न खायें वे त्यागने योग्य हैं। (३) तीसरी चीज है प्रमाद करने वाली वस्तुएं। जिनमें तम्बाकू मुख्य है। उसी का आज घर-घर रिवाज है। जो घर बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू आदिक से बचा हुआ है उसके ये दोष नहीं आ सकते। व्यर्थ की चीज, नशा करने वाली चीज, व्यर्थ पैसे भी खोये, इतना तो गरीबों को दे दिया जाये तो उनका भला हो। और लोग तो बताते हैं कि तम्बाकू खाने के कारण कैन्सर रोग हो जाता है। तो ये प्रमाद करने वाली चीजें अभक्ष्य हैं। (४) चौथी चीज है अनिष्ट। जिसके स्वास्थ्य में जो चीज नुकसान करे वह चीज वहाँ अभक्ष्य है। जैसे बुखार वाले को धी नुकसान करता तो धी उसके लिए अभक्ष्य है। ५ वीं चीज है अनुपसेव्य—जैसे गाय का मूत या लार। तो इनका तो वैसे ही त्याग होता है पर इनके अतिरिक्त जो खाने पीने योग्य पदार्थ हैं उनका परिमाण होना, मैं इतना सेवन करूँगा इससे अधिक नहीं।

(१७८) अतिथिसंविभाग नामक शिक्षाब्रत का निर्देशन—१२वां ब्रत अथवा ७ वां शील है श्रावक का अतिथिसम्बिभाग। जिसकी कोई नियत तिथि न हो, आने, जाने, रहने आदि की उसका नाम है अतिथि। अतिथि शब्द से ब्रती ग्रहण किया जाता है, मुनियों का ग्रहण होता है। उनको ४ प्रकार का दान करना अतिथिसम्बिभाग है। जो मोक्ष के लिए उद्यमी है ऐसे अतिथि के लिए संयम में जो प्रवीण हैं, शुद्ध चित्त वाले हैं उनको निर्दोष भोजन देना, धर्म के उपकरण देना, औषधि देना और रहने का उत्तम स्थान देना इसको कहते हैं अतिथिसम्बिभाग। पहले रिवाज था और आज भी कोई कर्तव्यपालन करना चाहे तो कर सकता कोई मुश्किल बात नहीं। पहले रोज-रोज शुद्ध भोजन बनता था और उसमें कोई अतिथि आ जाये, कोई ब्रती त्यागी आये तो उसको आहार कराकर आहार करूँ, ऐसा संकल्प रहता था। अब मानो पूरा निर्दोष भोजन बनाने में आजकल सुविधा नहीं है। इसलिए लोग क्या कहते कि जब पूरा शुद्धभोजन हमारे यहाँ बन नहीं सकता तो उसका क्यों विकल्प रखना? पूरा ही अशुद्ध भोजन बनने दो। तो उनकी यह बात ठीक नहीं। मान लो दो ही चीजें शुद्ध बनती हैं दाल, चावल तो वह चौका अधिक अशुद्ध तो न रहा। कम से कम इतना तो शुद्ध रखना ही चाहिए कि कोई अतिथि आ जाये तो उसे भोजन कराया जा सके। मान लो आठा धी दूध आदिक रोज-रोज शुद्ध नहीं रख पाते तो कम से कम दाल चावल तो शुद्ध बना सकते। कभी अचानक कोई ब्रती आ जाये

तो उसको भोजन करा के दिक्कत तो न हो । पहले रिवाज था ऐसा कि प्रायः करके शुद्ध भोजन बनता था । उसे कहते हैं अतिथिसम्बिभाग । उसमें अतिथि का विभाग बनाना । आजकल भी कई घरों में ऐसा रिवाज देखने में आता कि चौके में पहली रोटी जो निकलती उसे घर के लोग नहीं खाते, किसी अन्य प्राणी को दे देते, तो यह रिवाज मानो इस बात की निशानी है कि पहले अतिथि को भोजन कराकर लोग खुद भोजन करते थे । तो अतिथि को आहारदान, शास्त्रदान, औषधिदान और अभयदान देना आदि ये श्रावक के बाहर व्रत कहे । अब वह बतलाते हैं कि उन बाहर व्रतों का जीवनभर पालन करने वाला गृहस्थ अन्त समय में क्या करे, उसका उपदेश करते हैं ।

## सूत्र 7-22

मारणान्तिकी सल्लेखनां जोषिता ॥ ७-२२ ॥

(१७९) मरण समय सोत्साह सल्लेखना करने का कर्तव्य—मरण के समय में सल्लेखना को प्रीति सहित सेवन करे । जिसको ज्ञान जगा है और शरीर से भिन्न अपने आत्मा का स्वरूप जाना है वह जीवन भर तो व्रत का पालन कर रहा, पर अन्त समय में जब कि अत्यन्त वृद्ध हो गए अथवा कोई उपसर्ग आ गया, कोई अत्यन्त कठिन बीमारी आ गई जिसमें यह दिखने लगा कि अब तो यह अन्त समय है तो वह उस समय उस शरीर का मोह छोड़ देता है और समाधि मरण में अपना परिणाम लगाता है । वस्तुतः विचारे तो मरण में जीव को नुकसान कुछ भी नहीं है । जैसे कोई पुरुष अपनी तीन चार कोठियों में रहता है—रात को किसी हवेली में रहता, सुबह किसी गोदाम में, दोपहर को किसी कारखाने में, शाम को फिर किसी कोठार में । बताओ वहां कुछ नुकसान है क्या? ऐसे ही यह शरीर भी इस जीव का घर है । कभी पशु के शरीर में रहा, कभी मनुष्य शरीर में, कभी देव शरीर में, कभी कीटपतिंगे के शरीर में । अब देख लो शरीर तो बदलते रहे पर जीव तो वही पूरा का पूरा है, इस शरीर के बदलने में जीव का नुकसान क्या? पर ये मोही अज्ञानी जीव मरण से बड़ा भय मानते हैं । मरण समय में छूटते हुए धन वैभव कुटुम्ब परिजन आदि के समागम को देखकर बड़ा कष्ट मानते हैं । हाय मैंने बड़ा परिश्रम करके यह सब कुछ बनाया, आज यह सब हम से छूटा जा रहा है, यह सोच-सोच कर बड़ा दुःख मानते हैं । यदि मोहभाव न हो तो मरण समय में भी उसे ऐसा लगेगा जैसे कि मानो किसी टूटे फूटे घर को छोड़कर किसी नये घर में जा रहे हों । उसे दुःख नहीं होता बल्कि खुशी-खुशी से मरण करता है ।

(१८०) अज्ञान न रहने पर कष्ट की अनुपपत्ति—कष्ट जितना भी है वह सब अज्ञान में माना जाता है । नहीं तो इस जीवन में भी क्या कष्ट है सो तो बताओ । उस जीव की बात कही जा रही है जिसने आत्मा के स्वरूप को पहिचान लिया और उस ही आत्मा की भावना रख रहा कि मैं तो यह चाहता हूँ कि यह जो मात्र अकेला आत्मा है सो ही रह जाऊँ, मेरे साथ किसी बाहरी चीज का लाग लपेट न रहे, शरीर का लपेट रहे, न कर्म का । ऐसी स्थिति चाहता हूँ । ऐसी जिसकी भावना जगी है उस पुरुष को जीवन में भी कोई कष्ट नहीं है । आप कष्टों का नाम लीजिए, क्या कष्ट हुआ करते हैं? धन कम हो गया इसको लोग कष्ट कहते हैं । यह ज्ञानी

सोचता है कि वे चीजें बाहर-बाहर पड़ी थीं। बाहर इतनी थीं इतनी रह गईं। मेरे में न कुछ अधिक हुआ, न कुछ कम हुआ। और किसमें कष्ट मानते हैं लोग? इतने बड़ी थी अब कम हो गई, हम देश में बड़े नेता थे, मंत्री थे, अब चुनाव में हार गए.....अरे कोई यदि ज्ञानवान है तो वह रंच भी कष्ट न मानेगा, क्योंकि यश नाम किसका? ये जो चलते फिरते सनीमा के जैसे चित्र नजर आ रहे इनको लोग सच समझ रहे अर उनके बीच अपने सम्मान अपमान आदि की कल्पना कर रहे और कष्ट मान रहे। जिनकी दृष्टि बाहर में लगी है उनको कष्ट है और जिनको अपने आत्मा में लगन लगी है उनको रंच भी कष्ट नहीं है और, कष्ट क्या है? मरण हो रहा है यही सबसे बड़ा कष्ट है। ज्ञानी जीव जानता है कि मैं आत्मा इस शरीर से निराला हूँ। अब इस घर को छोड़कर पूरा का पूरा जाऊंगा, मेरा कोई बिगड़ हुए बिना, मेरे कोई प्रदेश कटे बिना, मेरे कोई गुण मिटे बिना यह मैं पूरा का पूरा अपने मैं हूँ। जब मैं हूँ तो मेरा इसमें कोई बिगड़ नहीं। जिसने मोह छोड़ा, आत्मा की अभिमुखता ग्रहण की उसको किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं है। तो ब्रती श्रावक अन्त में क्या करे? शरीर और कषाय इनको कृष करे।

(१८१) अन्त समय में अन्नादि के त्याग की संगतता—यह भी लोग सोचते हैं कि मरण समय में ब्रतीजन, मुनिजन या अच्छे श्रावक लोग क्यों छोड़ दिया करते कि मेरे अन्न का त्याग, मेरे दूध का त्याग, मेरे अमुक चीज का त्याग। ये त्याग क्यों किया करते हैं? अन्तरङ्ग कारण तो यह है कि उसमें ममता छोड़ रहे हैं, पर बहिरङ्ग कारण यह है कि ऐसा वृद्धावस्था वाला शरीर उन चीजों का त्याग करने में शान्ति से रहेगा और बुढ़ापे में ही खाया जा रहा है तो उसे तो अनेक रोग होंगे। अफरा चढ़ेगा, गैस फूटेगी, अनेक प्रकार की तकलीफ होंगी और त्याग में कोई तकलीफ नहीं होती। अनेक रोग ऐसे हैं कि जिनका आप इलाज न करें तो अपने आप रोग ठीक हो जायेगा। कुछ ही रोग ऐसे हैं कि जिनका इलाज करना जरूरी होता। मान लो किसी को बुखार आ रहा है उसका इलाज करना है, तो इलाज करते हुए भी करीब १५-२० दिन तो ठीक होने में लग ही जाते होंगे पर ऐसा भी हो सकता कि कोई यह संकल्प करके बैठ जाये कि जब तब बुखार ठीक नहीं होता तब तक न दवा लूँगा, न अन्न, सिर्फ प्यास लगने पर गरम जल या भूख लगने पर उचित फल ले लूँगा तो इस दृढ़ता से भी वह बुखार उतने ही दिनों के अन्दर ठीक हो जायेगा। बल्कि उससे भी जल्दी ठीक हो सकता। दवा लेने पर यह तो अंदेशा है कि रोग बढ़ जाये, मगर दवा न लेने पर रोग बढ़ने का तो अंदेशा नहीं, बल्कि रोग का घट जाना अधिक सम्भव है। तो यह त्याग हर स्थिति में शान्ति का साधक बनता है। इन चीजों का बुढ़ापे में जो त्याग किया जाता है तो मरण समय में यह शरीर अपनी अवस्थाओं के अनुसार स्वस्थ रहता है जिसमें कि धर्मध्यान बन सकता है। अभी कोई हट्टाकट्टा पुरुष भी खूब डटकर भोजन कर ले तो उसे भी बेचैनी होती है फिर ऐसी वृद्धावस्था में यदि उसे खूब खिलाया जाये तो उसके पेट में बड़ा विपरीत असर होगा। उसका धर्मध्यान में चित्त भी नहीं लग सकता। इसलिए शरीर को कृष करने का उपदेश है। और कषाय को कृष करना, क्षीण करना यह तो ब्रतों का ध्येय ही है। तो यह श्रावक उस समय समाधिमरण का प्रीतिपूर्वक सेवन करता है।

(१८०) सोल्लास सल्लेखना धारण करने के कर्तव्य के परिचय के लिये जोषिता शब्द का उल्लेख तथा

**आत्मबध के प्रसंग की अनुपपत्ति—**इस सूत्र में कहा जा रहा है कि मरण के समय में उत्साह और उमंग के साथ सल्लेखना धारण करना चाहिए। यहाँ क्रिया शब्द दिया है जोषिता, उसके एवज में शंकाकार कह रहा है कि इतना कठिन शब्द क्यों रखा? सेविता यह शब्द रख देते। झट समझ में आ जाता कि सल्लेखना का सेवन करना चाहिए। उत्तर इसका यह है कि सेवन करना और जोदिना, जोषना और जोषिता के अर्थ में अन्तर है। सेवन करना तो सामान्यरूप में है, मगर जोषिता शब्द में यह अर्थ बसा है कि विनयपूर्वक सेवन करना चाहिए। सेविता तो भोग की चीज में भी आता। भोग का विषय का सेवन करना। जोषिता शब्द केवल आदर की क्रिया में, कर्तव्य में आता है। तो इस सूत्र का अर्थ हुआ कि मरण के समय में सल्लेखना का प्रीतिपूर्वक सेवन करें। यहाँ एक शंका होती है कि समाधिमरण में लोग यही क्रिया तो करते हैं कि यह चीज छोड़ा, वह चीज छोड़ा, यों छोड़कर अपने प्राण नष्ट कर दिया, फिर यह ब्रत कैसे रहा और इसके फल में सुहाति कैसे मिलेगी? तो उसके उत्तर में कहते हैं कि इस सूत्र में भी उस प्रमत्त योग की झाँकी है। चूंकि यह ब्रत का प्रकरण है, पाप का नहीं है। पाप में तो प्रमत्त योग से यह अर्थ किया था। यहाँ अर्थ करते कि प्रमत्त योग के बिना संन्यासमरण धारण करो। प्रमत्त योग का अर्थ है—रागद्वेष मोह, स्वार्थ, खोटे भाव ये न रखे जाये और संन्यासमरण हो तो वह सल्लेखना कहलाता है। सल्लेखना में उत्साह उमंग प्रभु की ओर भक्ति, आत्मस्वरूप की ओर विनय ये सब सद्गुण आते हैं। तो यों बड़े विनय से आदरभाव से सल्लेखना धारण करना। जिसको आत्मतत्त्व का परिचय है, आत्मा में ही जिसका प्रेम है, शरीर को लोथड़ा का पिण्ड जानकर उसके प्रति जिसको मोह नहीं है वह आत्मतेज में उपयोग रमाकर लुप्त हो रहा है। उसे और कुछ नहीं सुहाता। यह एक मरण समय की बहुत बड़ी विशेषता है। वैसे तो ज्ञानी जीव को बाहरी कोई बात भीतर सुहाती नहीं है। एक अन्तःस्वरूप ही सुहाता है और फिर उस ज्ञानी का हो शरीर छूटने का समय तो उसकी इस प्रगति में और भी विशेषता बढ़ जाती है। वैसे बाहरी बातें तो कोई साधारण व्यक्ति हो तो उसे भी मरण समय में नहीं सुहाती। जैसे किसी को फांसी दी जा रही हो तो वह आत्महत्या ही तो है, खुद न की, दूसरे ने की। उसे वहाँ न खाना सुहावेगा, न कोई मौज। तो मरणसमय का प्रसंग ही ऐसा है, फिर जिस ज्ञानी को जीवन में भी कुछ न सुहाया उसको आत्मस्वरूप के अतिरिक्त मरण समय में दूसरा सुहायेगा ही क्या? केवल आत्मस्वरूप की आराधना रहे तो वह तो प्रसन्न होकर सल्लेखना कर रहा है। वहाँ आत्महत्या का प्रसंग नहीं है।

(१८३) **सल्लेखनामरण में आत्मबध के असर की अनुपपत्ति के अन्य कारण—**दूसरी बात यह है कि समाधिमरण करने वाले को भी मरण अनिष्ट है, वह मरण नहीं चाहता। लेकिन मरण आ ही जाये तब बे अपने वैभव की रक्षा करते हैं। जैसे कोई पुरुष दूकान में आग लग जाये, यह नहीं चाहता। कोई चाहता है क्या कि मेरी दूकान में आग लगे? और कदाचित् आग लग गई दूकान में और ऐसी आग लगी कि बचने का कोई साधन नहीं, देहाती स्थल है, कोई फायर वैग्रह का प्रबंध नहीं है तो उस समय विवेकी का विवेक क्या करेगा कि जो धन है, जो मूल्यवान चीजें हैं उनको भंडार में से जल्दी निकाल लें, यह तो बच जाये। दूकान में आग लगती है तो लगे मगर भण्डार में जो बहुमूल्य रत्न रखे हैं वे तो बच जायें। ठीक यही दशा समाधिमरण में है। शरीर

में आग लग गई मायने मरण हो रहा, मृत्यु निश्चित है, मरण इष्ट नहीं है तो भी मरण आ रहा, तो उस समय विवेकी यह करता है कि मेरे भण्डार में जो रत्न हैं—ज्ञान दर्शन चारित्र आत्मदृष्टि सम्यक्त्वादिक वे सब तो मैं बचा लूं, वे तो न नष्ट हो जाये। यह प्रीति बसी है भीतर। तो ऐसे एक उत्तम लक्ष्य को लिए हुए कोई समाधिमरण करे तो आत्महत्या कैसे कहला सकती? हाँ समाधिमरण का नाम लेकर अज्ञानी जीव कोई यदि आहार आदिक का त्याग करके मरे और नाम भले ही समाधिमरण का धरे, मगर लक्ष्य का जिसे पता नहीं है उसके लिए आत्मवध है मगर जिसको लक्ष्य का पता है और अपने सम्यक्त्वादिक गुणों की रक्षा के लिए ही वह संन्यासमरण कर रहा है तो वह आत्मवध नहीं है। तीसरी बात यह है कि संन्यासमरण करने वाले को न जीने की चाह है, न मरने की। उस ओर दृष्टि ही नहीं है। एक अपने गुण रत्न की रक्षा की दृष्टि है। जैसे कोई यह न चाहे मुनि या विवेकी कि मेरे को ठंड लगने का सुख पैदा हो या गर्मी लगने का दुःख पैदा हो और वे सुख दुःख के साधन जुट जायें तो सुख दुःख तो बने, मगर उनमें वह रागद्वेष नहीं करता। ज्ञाताद्रष्टा रहता है, मायने अपनी रक्षा करता है।

(१८४) समाधिमरण की भावना की प्रतिक्षण आवश्यकता—वास्तविकता तो यह है कि समाधिमरण तो प्रतिक्षण करना चाहिए। मतलब क्या कि मरण दो तरह का होता है—एक तो आवीचिमरण और दूसरा तदभवमरण। प्रतिक्षण हमारी आयु घट रही है। आयु का निषेक उदय में आकर दूर हो रहा तो हम प्रति समय मर रहे हैं। आयु के नाश होने का नाम मरण है। अब जो आयु का उदय आया उसका तो नाश हुआ। तो हम प्रतिक्षण मर रखे हैं, फिर ऐसा कह सकते ना जैसे कोई कहता है कि हम ५० वर्ष के हो गए तो उसके मायने यह है कि हम ५० वर्ष मर चुके। चाहे यह कहें कि हम ५० वर्ष के बड़े हो गए, उसका सीधा अर्थ है कि हम ५० वर्ष की आयु खो बैठे, मर चुके, अब थोड़ा समय और शेष रहा तदभवमरण हो जायेगा। मायने इस भव से ही कूँच हो जायेगा। तो जब हमारा मरण प्रतिसमय हो रहा है तो हमारा कर्तव्य है कि हम प्रतिसमय अपनी भावना शुद्ध रखें ताकि हमारा प्रतिक्षण में समाधिमरण बना रहे और जो ऐसा प्रतिक्षण का समाधिमरण का अभ्यास नहीं रखता उसे अंतिम समय में भी मुश्किल पड़ेगा समाधिमरण करने में। तो जिसके न जीने का अभिप्राय है, न मरण का वह पुरुष मान लो मरण को प्राप्त हो रहा है, समय आ गया है तो उस समय वह मरण का दुःख न मानकर अपने गुणों की रक्षा में प्रसन्न रहता है, इस कारण संन्यासमरण करने वाले को आत्मवध नहीं होता है।

(१८५) सल्लेखनामरण को किसी भी दार्शनिक द्वारा आत्मवध कहने की अनुपपत्ति—चौथी बात—जो दार्शनिक यह कहते कि यह तो आत्महत्या है तो ये दार्शनिकों के उत्तर स्वयं उनके शास्त्र से विरोध आता है अर्थात् सिद्धान्त से विरोध आता है। जैसे आत्मवध कहने वाले कौन है? एक नाम लो। जैसे कहो कि बौद्ध हैं, जो मानते कि क्षण-क्षण में आत्मा नष्ट होता रहता है, एक क्षण को बना और नष्ट हो गया तो वह तो प्रतिक्षण नष्ट होता हो रहता है। वे तो आत्मवध कहने को जीभ भी नहीं हिला सकते। दूसरी बात यह है कि बध के बात कहने में चार बातें समझनी पड़ेगी—(१) एक तो सत्त्व प्राणी वध, (२) सत्त्व संज्ञा, (३) वध करने वाला, (४) वध का परिणाम। अब जो लोग पदार्थ को एक क्षण ठहरने वाला मानते, आत्मा एक क्षण ही रहता ऐसा

मानते, उनके ये चारों ही बातें नहीं बन सकती। हुआ और गुजरा। कौन मारने वाला कहां वध का परिणाम और कोई चीज है ही नहीं वह बहुत समय रहने वाली। ऐसे लोग अगर आत्मवध की बात कहें तो इसमें वे जीभ भी नहीं हिला सकते। और हिलाये तो वे अपने सिद्धान्त के खिलाफ गए। कुछ लोग ऐसे हैं कि जो आत्मा ही नहीं मानते ऐसों की संख्या बहुत भरी पड़ी है। चारुवाक, नास्तिक ये मानते कि आत्मा कोई चीज नहीं है, और जो मालूम पड़ता कि मैं जीव हूं, सो यह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु का सम्बन्ध होने से एक करेन्ट बन गया है, जो समझता है, बोलता है, चलता है। आत्मा कुछ नहीं है, ऐसा भी मानने वाले लोग हैं, तो ऐसे लोग भी आत्मवध की बात मुख से बोल ही नहीं सकते। जब आत्मा ही नहीं है तो फिर किसके वध की बात बोलें? अच्छा अब एक दार्शनिक और खड़ा कीजिए। नित्यवादी दार्शनिक कहता कि यह तो इन व्रतियों का आत्मवध है तो वे भी कुछ बोल ही नहीं सकते, स्ववचनविरोध है। नित्यवादियों का सिद्धान्त है कि प्रत्येक पदार्थ निष्क्रिय होता है, क्रिया न हो, विकार न हो, अदल बदल तरंग न हो तब फिर वध नाम की चीज क्या रही तुम्हारे सिद्धान्त में न मरना है, न जीना है, न सुख है, न दुःख। ऐसा नित्य मानने वाले सिद्धान्तियों के भी आत्मवध की बात मुख से नहीं बोली जा सकती और बोलेंगे तो उनका सिद्धान्त गलत हो गया, फिर वह निष्क्रिय कहां रहा? तो इन सब बातों से यह सिद्ध हुआ कि जो कषायभाव के बिना आत्मा के गुणों की रक्षा के अभिप्राय से जो काम और कषाय को छोड़ता है, कृश करता है, सल्लेखना करता है तो वह आत्मवध नहीं करता किन्तु अपने आत्मा की रक्षा करना है।

(१८६) **सल्लेखना के समय आदि का निर्देशन**—अच्छा तो सल्लेखना कब करना चाहिए यह एक जिज्ञासा हुई। उसका उत्तर-जब शरीर, बुढ़ापे से अत्यन्त जीर्ण हो जाये, शरीरबल पूरा खत्म हो जाये, क्षीण हो जाये, रोग से घिर जाये, जिन रोगों से बचना असाध्य है ऐसे वात आदिक विकारों से उत्पन्न हुए रोग से घिर जाये तो ऐसा पुरुष उस समय परिणामों में संक्लेश न आये, इस अभिप्राय से कोई प्रासुप साधारण चीजों का सेवन करता है, पश्चात् उसको भी त्याग आदिक विधियों से काय और कषाय जिनके कृश हो रहे हैं सो आत्मभावना का निरन्तर ध्यान रखते हुए शास्त्रोक्त विधि से सल्लेखना का सेवन करें। धर्म की बात बताने और सिखाने से नहीं आती। जिसको आत्मा के धर्मस्वभाव की सुध है और आत्म- स्वभाव की अनुभूति होने से जिसमें एक अलौकिक आनन्द जगा है वह अपने गुणों की रक्षा के लिए तुला हुआ है। उसे कब क्या करना चाहिए, यह कुछ नहीं सिखाना पड़ता। वह अपने आत्मा की भावना के बल पर कुछ भी सुगमतया कर लेगा जो कुछ किया जाना चाहिए। फिर भी शास्त्रोक्त विधि से जो जाननहार हैं उसको सुगमता रहती है कि हमको इस समय मरण समय में क्या करना चाहिए?

(१८७) **निर्मोहता में कर्तव्यों का सुगम निर्वाह**—इस जीव की विजय है मोह के दूर करने में। मोह को नष्ट करके घर में रहने वाला गृहस्थ निरन्तर धर्म का आचरण किए हुए है। मोह मिट गया फिर भी घर में रहना पड़ता है ऐसी कोई परिस्थिति होती है। हां राग किए बिना घर में नहीं रह सकते, इतना तो है। पर मोह किए बिना कोई घर में रहे तो वह बड़े उत्तम विधि से घर में रहता है। वह जानता है कि मोह करने से लाभ क्या? घर में तो यों रहना पड़ता कि शरीर साथ लगा है, भूख प्यास आदि की अनेक बाधायें लगी हैं, उनको

शान्त करना जरूरी है तो उसका उपाय भी बनाना होता, घर में रहना पड़ता तो घर में रहना राग किए बिना नहीं बनता। कोई घर में लोगों को गाली बकता रहे कि तुम सब परपदार्थ हो, नारकादिक खोटी गतियों में पहुंचाने वाले हो, बस यह ही बात कहता रहे, राग के विरुद्ध बर्ताव बनाये रहे तो बताओ उसका घर में गुजारा हो सकता क्या? नहीं। उसे तो घर में भोजन पान भी ठीक-ठीक न मिलेगा। कोई बड़ा कमाऊ भी हो वह सबको गाली देता फिरे तो भले ही घर के बरदाश्त कर लें मगर उनके चित्त में उसके प्रति आदर न रहेगा। घर का रहना राग बिना नहीं बनता, पर मोह बिना तो बहुत अच्छा बनता है। जितनी अच्छी तरह से मोही जीव घर में नहीं रह सकते उससे भी अच्छी तरह से निर्माह गृहस्थ घर में रहता है। घर में रहने वालों की दृष्टि में निर्माही का बड़ा आदर रहेगा। उसके प्रति भीतर से सबकी विनय होगी, डर भी रहेगा। एक भी बात वह मुख से निकाले तो परिवार के लोग सिर पर धारण करेंगे। घर में निर्माह बनकर रहे तो बड़ा सम्मानपूर्वक रहना बनता है और मोही जीव घर में रहता है तो उसके लड़के लोग स्वच्छंद हो जाते हैं। बाप का क्या डर? बच्चे लोग जानते कि बाप तो हम पर मर रहा है, हमारे मोह में आसक्त है, वह तो मेरे लिए सुख सुविधाओं का प्रयत्न कर ही रहा है, यदि उससे उल्टा चले तो भी क्या डर है। देखिये मोह-मोह में ही रहकर गृहस्थी में रहना भला रहना नहीं बनता और निर्माह बनकर गृहस्थी में रहे तो उसके प्रति सबका सद्व्यवहार रहेगा।

(१८८) निर्माह होकर जीवन को यापना से जीवन में व अन्त समय में शान्ति सुयोग का लाभ—मोही रहकर जीवन गुजारना अपना जीवन खोना है। मोह न रखने का मतलब क्या कि सर्वजीवों को स्वतंत्र सत्ता वाला समझिये। घर में जितने प्राणी आये हैं इन सबका जीव स्वरूप निराला, इनके कर्म इनके साथ, इनका सब कुछ भवितव्य इनके कर्मादय के अनुसार। इन पर मेरा कुछ अधिकार नहीं, इन पर मेरा कोई स्वामित्व नहीं, क्योंकि वस्तुस्वरूप ही यह है। जो जीव है वह अपने स्वामित्व में है, अपने द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव से परिणमता है, उस पर मेरा अधिकार नहीं है। सब स्वतंत्र-स्वतंत्र पदार्थ हैं, मेरे नहीं है, भिन्न हैं। एक यह निर्णय हो जाये कि जब इनकी सत्ता स्वतंत्र है, मेरे साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं है तो ये मेरे कैसे हैं? मेरा जगत में परमाणुमात्र भी नहीं है, ऐसा जिसका पक्का निर्णय है उसे कहते हैं निर्माह। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष। तो जो निर्माह है उसको संसार में आकुलता नहीं है। मरणसमय में केवल एक ही दृष्टि रहती है कि मेरे आत्मा की रक्षा हो, मेरे आत्म गुण विकृत न हो, मैं आत्मस्वभाव को लखता हुआ ही परभव को जाऊंगा। मरणसमय में जैसी दृष्टि रखकर जा रहा हूँ रास्ते में भी वही दृष्टि रहेगी, जन्म समय में भी उसी का लगार रहेगा। संस्कार रहने से फिरअगले जीवन में भी उस धर्म और ज्ञान की बात रहेगी। इसलिए सल्लेखना करना कितना उपकारी ब्रत है और इसके विरुद्ध मानो कोई जीव हाय-हाय करके मर रहा और मरते समय वह कहे कि मेरी बेटी को बुला दो, बेटे को बुला दो या पोते को बुला दो, उसे देख लें तो मेरी छाती ठंडी हो जायेगी या लोग भी कह देते कि देखो इसके प्राण। तो अमुक में अटके हैं, उसे दिखा दो बस इनकी छाती ठंडी हो जायेगी तब प्राण निकलेंगे। मानो ऐसा ही कोई मर रहा हो तो बताओ वह जो कुछ ही मिनटों का समय जो छोटे परिणामों में खो दिया तो उसकी फल क्या होगा? यही कि उसका अगला भव तो सारा ही खराब हो जायेगा। अथवा जिसकी आयु खोटी बंध गई। उसके मरणसमय में संन्यासमरण का भाव हो ही नहीं सकता। जैसी गति होनी

है वैसी गति हो जायेगी । मरणसमय का एक आध मिनट का तो फैसला और उसी समय प्राप्त समागमों में हो जाये ममता तो ऐसे भावों का जो मरण है वह अगले भव में एक दुःख को ही उत्पन्न करने वाला है ।

(१८९) सल्लेखनासेवन के सूत्र को अलग से कहने का प्रयोजन—यहां एक शंकाकार कहता है कि इससे पूर्व के २२ वें सूत्र के साथ इस सूत्र को जोड़ दिया जाता तो बहुत अच्छा होता । इसे अलग से कहने की आवश्यकता नहीं है । इसके उत्तर में कहते हैं कि इस सूत्र को अलग कहने के तीन प्रयोजन है—(१) सात शील धारण करने वाले गृहस्थ के किसी के किसी समय सल्लेखना की अभिमुखता होती है, सबके नहीं होती । जैसे कि दिग्ब्रत, देशब्रत आदिक ७ शील प्रतिसमय रहते हैं और वे समस्त श्रावकों के लिए अनिवार्य हैं उसकी तरह सल्लेखना ब्रत सबके लिए अनिवार्य नहीं है । किसी के हो पाता है, किसी में सल्लेखना के कारण नहीं हो पाता । (२) श्रावक कभी-कभी घर छोड़कर भी किसी स्थल पर या सत्संग में रहे तो उसको जो सल्लेखना होगी वह भावरूप से ही, होगी, इस विशेष अर्थ की सूचना देने के लिए यह पृथक् सूत्र बनाया गया है । (३) सल्लेखना का विधान सप्तशीलधारी गृहस्थ को ही नहीं है याने केवल गृहस्थ ही सल्लेखना धारण करे, ऐसा नहीं है किन्तु महाब्रती साधु के भी सल्लेखना होती है, इस नियम की सूचना के लिए भी पृथक् सूत्र बनाया गया है । अब जो आचार्यदेव ने कहा कि निःशल्य, ब्रती होता है तो उस शल्य में माया, निदान और मिथ्यात्व—इन तीन प्रकार के शल्यों का वर्णन किया । उनसे रहित ब्रती को बताया जिसमें सावित किया कि ब्रती सम्यग्दृष्टि ही हो सकता है । यह तो जाना । अब उस सम्यग्दर्शन के बारे में यह जिज्ञासा होती है कि उसमें भी कोई अपवाद होता है या न होते तो किसी के किसी मोहनीय अवस्था के कारण अतिचार भी हुआ करते या नहीं सो उन अपवादों को बताने के लिए सूत्र कहते हैं ।

## सूत्र 7-23

**शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥ ७-२३ ॥**

(१९०) सम्यक्त्व के पांच अतिचार—सम्यग्दर्शन के ये ५ अतिचार हैं । जैसे पहले यह संकेत किया था कि ब्रतों की भावनायें होती हैं उसी प्रकार ब्रतों के अतिचार का भी संकेत किया जायेगा । तो चूंकि ब्रत सम्यग्दर्शनपूर्वक होते हैं और सम्यग्दर्शन के भी अतिचार सम्भव हैं । तो सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन के अतिचारों का वर्णन किया गया है । ये सम्यक्त्व के अतिचार स्थूल रूप से हों तो सम्यक्त्व भंग हो जायेगा पर कदाचित् किसी सूक्ष्म रूप से होता है तो उसके कारण सम्यक्त्व प्रकृति नामक मोहनीयकर्म का उदय विशेष है अथवा व्यवहार सम्यक्त्व के विषय में ऐसा प्रवृत्तिरूप अतिचार सम्भव है । वे अतिचार ५ ये हैं—(१) शंका (२) कांक्षा (३) विचिकित्सा (४) अन्यदृष्टि प्रशंसा (५) अन्यदृष्टिसंस्तव । निःशंकित अंग में निःशंकितता का वर्णन किया गया था, तो उनसे उल्टा जो भाव है वह शंका कहलाती है । जैसे किसी प्रकार का जीवन में कुछ भय मानना या कुछ शास्त्र स्थूल में किसी प्रकार का संदेह होना यह सब शंका है और सम्यग्दर्शन के अतिचार है । निःकांक्षित अंग में निःकांक्षितपने का वर्णन किया गया था, उससे उल्टा भाव है कांक्षा, किसी प्रकार की सांसारिक बातों की, साधनों की इच्छा होना कांक्षा, है अथवा धर्मसेवन करते हुए भी जीवन का प्रयोजन होने

से कभी किसी प्रकार की कांक्षा हो जाना कांक्षा है। यह सम्यगदर्शन का अतिचार है। निर्विचिकित्सा अंग में ग्लानिरहितपने का वर्णन था, उससे उल्टा विचिकित्सा है। कर्मोदमभाव में खेद मानना निर्विचिकित्सा है, अथवा धर्मात्माजनों की सेवा करने में कोई ग्लानि करना विचिकित्सा है। यह सम्यगदर्शन का अतिचार है—मन से अज्ञानी मिथ्यादृष्टिजनों के ज्ञान और चारित्र गुणों की प्रशंसा करना, गुणों का व्याख्यान करना अन्यदृष्टिसंस्तव है। चूंकि मोक्षमार्ग के विपरीत मार्ग में वे अन्यदृष्टि मन कर रहे हैं तो उनकी कोई बात सुहाना, उनकी स्तुति करना यह सम्यगदर्शन में अतिचार है।

(१९१) अविरतसम्यगदृष्टि, देशब्रती व महाब्रती सभी के सम्यक्त्व के अतिचार बताने के लिये सम्यगदृष्टेः शब्द का ग्रहण—यहां एक शङ्काकार कहता है कि यह प्रकरण श्रावकों के ब्रत और शीलों के वर्णन करने का है। तो इसमें यह शिक्षा दी हुई है कि उस गृहस्थ सम्यगदृष्टि के ही शंका आदिक अतिचार हो सकते हैं, मुनियों के नहीं होते हैं। क्या ऐसा ही है? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि ये अतिचार केवल गृहस्थ सम्यगदृष्टि के ही लगते हैं यह बात नहीं है, किन्तु ऐसी वृत्ति भावमुनि के हो तो उनके भी सम्यक्त्व के अतिचार लगते हैं और इसी बात को स्पष्ट करने के लिए सूत्र में सम्यगदृष्टि सम्यगदृष्टेः शब्द दिया है याने ये सम्यगदर्शन के अतिचार हैं। चाहे वह सम्यगदृष्टि श्रावक हो या मुनि हो, जिसके ये परिणाम पायें जाये उसके ये दोष होते हैं। यद्यपि गृहस्थ ब्रती का प्रकरण आगे रहेगा तो भी यह बीच में आया हो यह सूत्र सम्यगदृष्टि सामान्य के लिए कहा गया है। चाहे वह गृहस्थ हो अथवा मुनि हो, ऐसा परिणाम सम्यगदर्शन के दोषरूप है। अतिचार का अर्थ है दर्शनमोह के उदय से तत्त्वार्थ श्रद्धान से अतिचरण हो जाना, अतिक्रम हो जाना, उसका उल्लंघन होना अतिचार कहलाता है। ये शंका आदिक ५ सम्यगदृष्टि के अतिचार हैं। यहाँ एक जिज्ञासा होती है कि सम्यगदर्शन के ८ अंग कहे गए हैं, सो ८ अंगों के विपरीत परिणाम ८ ही होते हैं तो अतिचार भी ८ ही कहे जाने चाहिए थे फिर यहाँ ५ क्यों कहे गए? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि बात तो युक्त है लेकिन उन सबका इस ५ में ही अन्तर्भाव किया गया है। चूंकि अभी ब्रत और शीलों में ५-५ अतिचार आचार्यदेव कहेंगे। सो उस सामंजस्य में सम्यगदृष्टि के भी अतिचार ५ कहे गए हैं। सो इन पाँचों में वे प्रतिपक्षी गर्भित हो जाते हैं। यहाँ अमूढ़ दृष्टि अंग के विपरीत प्रतिपक्षी भावों को प्रशंसा और संस्तव—इन दो रूपों में अलग-अलग कहा गया है। शेष जिन किन्हीं भी दोषों का जो सम्यक्त्व में सम्भव है उनका इन ५ में ही गर्भित होना परखना चाहिए। अब यह जिज्ञासा होती है कि सम्यगदर्शन के यहाँ ५ अतिचार कहे गए हैं और वे अगारी और अनगार अर्थात् गृहस्थ और मुनि के दोनों के साधारणरूपतया सम्भव है। तो चूंकि सभी के आदि में सम्यगदर्शन होना ही चाहिए। सम्यगदर्शन पूर्वक हुआ ब्रत ही ब्रत कहलाता है। सो सम्यगदृष्टि के अतिचार बताया वे युक्त है। तो अब ब्रत और शीलों के अतिचार की गणना करना चाहिए। सो उस ही का निर्देश करने के लिए सूत्र कहते हैं।

## सूत्र 7-24

**ब्रतशीलेषु पंच-पंच यथाक्रमम् ॥ ५-२४ ॥**

(१९२) ब्रत और शीलों के पाँच-पांच अतिचार कहे जाने का निर्देश—ब्रत और शीलों के क्रम से ५-५ अतिचार होते हैं, जो कि क्रम से कहे जायेंगे। ब्रत बताये ही गए थे—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। शील भी ७, बताये गए हैं—(१) दिग्ब्रत, (२) देशब्रत (३) अनर्थदण्डब्रत (४) सामायिक (५) प्रोषधोपवास (६) भोगोपभोगपरिमाण और (७) अतिधिसम्बिभाग। इन ब्रत और शीलों में ५-५ अतिचार बताये जायेंगे। यहाँ एक शंकाकार कहता है कि ५ ब्रत और ७ शील ये सब १२ ब्रत ही तो हैं इसलिए यहाँ वृत्तेषु इतना ही शब्द दिया जाता। शील शब्द कहने की क्या आवश्यकता है? सूत्र भी लघु हो जाता। दिग्ब्रत आदिक में भी तो संकल्पपूर्वक नियम लिया गया है इसलिए वह भी ब्रत कहलाता है। और फिर ७ शीलों के वर्णन में जो सूत्र आया है उस सूत्र में ७ के नाम लेकर अन्त में ब्रतसम्पन्नः यह शब्द दिया गया है। सो वे सब ब्रत ही हैं। तब सूत्र में ब्रतेषु इतना ही कहना चाहिए था। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यहाँ शील विशेष को एकदम स्पष्ट करने के लिए शील शब्द लिख रहे हैं। यद्यपि अनिसधिपूर्वक। नियम करना ब्रत कहलाता है, इस दृष्टि से दिग्ब्रत आदिक भी ब्रत ही हैं, किन्तु प्रथान जो ५ ब्रत कहे गए हैं अहिंसा आदिक उन ब्रतों की रक्षा करने वाला शील होता है। ऐसा विशेष प्रकट करने के लिए शील शब्द का ग्रहण किया गया है। और इसी कारण दिग्ब्रत आदिक शील शब्द से ग्रहण किए गए। तब सूत्र का अर्थ हुआ ५ ब्रत में और ७ शीलों में ५-५ अतिचार कहे जायेंगे। इस प्रकरण में यह सब गृहस्थों के ब्रत का ज्ञान करा रहे हैं। ब्रतों का प्रकरण होने पर भी मुनियों के लिए ये अतिचार नहीं कहे जा रहे, वे तो इन गृहस्थ ब्रतों में भी ऊपर उठे हुए हैं, सिर्फ गृहस्थ के लिए ये अतिचार कहे जा रहे हैं क्योंकि आगे जो अतिचारों के नाम आयेंगे, जैसे पशुओं का पीटना बांधना, उन पर बोझा लादना यह बात मुनियों के कभी सम्भव ही नहीं है। गृहस्थजनों के सम्भव हो सकती इस कारण ये सब गृहस्थ के ही अतिचार हैं, मुनिब्रत में अतिचार नहीं हैं।

(१९३) सूत्रोक्त विशिष्ट शब्दों की सार्थकता—इस सूत्र में पंच-पंच शब्द दो बार कहे गए। इसका अर्थ है कि प्रत्येक ब्रतों में ५-५ अतिचार होते हैं। यद्यपि एक पंच शब्द कह कर ही उसमें सस प्रत्यय लगाकर पंचसः इतना ही कह दिया जाता, दो पंच शब्द न कहने पड़ते, ऐसा भी सम्भव हो सकता था, मगर उससे सही स्पष्टीकरण नहीं हो पाता और पंच-पंच इस तरह शब्द बोलने से एकदम स्पष्ट अर्थ निकलता है कि प्रत्येक ब्रतों में ५-५ अतिचार होते हैं। इस सूत्र में यथाक्रमम् शब्द देने का भाव यह है कि आगे जो भी अतिचार कहे जायेंगे उनमें ब्रतों के नाम न दिये जायेंगे सो उन ब्रतों के नाम अपने आप क्रम से लगा लेना चाहिए। इस प्रकार आगे कहे जाने वाले बारह ब्रतों के अतिचारों का एक प्रकरणरूप सूत्र कहा गया है। अब प्रथम अहिंसाणुब्रत के अतिचार बतला रहे हैं। जिन अतिचारों से भी अगर गृहस्थ हट जाये तो उसका अहिंसाणुब्रत निरपवाद हो जाता है, वह अतिचार यह है।

## सूत्र 7-25

**बन्धबधच्छेदातिभारारोपणान्पाननिरोधाः ॥७-२५॥**

(१९४) अहिंसाणुव्रत के पांच अतिचार—अहिंसाणुव्रत के अतिचार इस प्रकार हैं। (१) किसी पशु को जो कि किसी अपने दृष्टि देश को गमन करने का उत्सुक है उसके प्रतिबंध का हेतुभूत खुटे आदिक में रस्सी आदिक से विशिष्ट दृढ़ बांध देना बंधन है। यह बंधन सामान्यतया गृहस्थ को करना पड़ता है, क्योंकि गृहस्थ के घर गाय, बैल, भैंस आदिक पशु भी होते हैं और वे पशु ही तो हैं। वे उद्दण्डता न करें, यत्र तत्र न भागे, इस प्रयोजन से बाँध दिए जाते हैं। एक दूसरे को न मारें इसलिए भी बांध दिए जाते हैं, उनको इतना मजबूत बाँधना कि कोई उपद्रव आने पर वे वहाँ से जा न सके और अपने प्राण गमा दें, ऐसा बन्धन बड़ा दोष करने वाला है। तो पशु आदिक को बांधना यह प्रथम अतिचार है। (२) डंडा, बेंत, रस्सी आदिक से उनको पीटना, यह उनका वध कहलाता है। वध के मायने मात्र पीटना है। जैसे कि अक्सर कभी कोई डंडा मारना पड़ता है वह अतिचार है, उनके प्राण खत्म कर देना यह तो अनाचार है, कूरता है। उसका तो प्रकरण ही नहीं है, अवकाश ही नहीं है। केवल थोड़ा ताड़ देना यह वध कहलाता है। यह हिंसा ब्रत का अतिचार है। (३) पशु आदिक के कान, नाक आदिक अवयवों को छेद देना छेद कहलाता है। यह अहिंसाणुव्रत का तृतीय अतिचार है। (४) पशुओं पर उनके सामर्थ्य से बाहर भार लादना। जितना भार लादना चाहिए या सरकारी आज्ञा है या हृदय बतलाता है उससे भी कम करना उचित है। मगर उससे भी अधिक भार लादना यह अहिंसाणुव्रत का अतिचार है, क्योंकि विशेष लोभ के कारण बैल आदिक पर अधिक बोझ लादा लाता है--यह दोष है। (५) भूख प्यास की बाधाओं को उत्पन्न करना, उनके अन्न पान का निरोध करना यह अणुव्रत का ५वां अतिचार है। क्रोधवश प्रमादवश उनको समय पर अन्न पान न देना यह अहिंसाणुव्रत का अतिचार है। ये ५ अहिंसाणुव्रत के अतिचार कहे गए हैं। अब सत्याणुव्रत के अतिचार कहते हैं।

## सूत्र 7-26

**मिथ्योपदेशरहोऽन्याख्यानकूलेटखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्वभेदाः ॥७-२६॥**

(१९५) सत्याणुव्रत के पांच अतिचार—सत्यव्रत के अतिचार इस प्रकार हैं—(१) मोक्ष और स्वर्ग के प्रयोजनभूत क्रिया विशेषों में अन्य प्रवर्तन करना—इस प्रकार का विचार उपदेश करना मिथ्योपदेश नाम का अतिचार है। (२) स्त्री पुरुष के द्वारा एकांत में किए जाने वाली क्रिया विशेष का प्रकाशन करना, प्रकट करना रहोम्याख्यान नाम का अतिचार है। (३) किसी अन्य ने तो कहा नहीं पर दूसरे के प्रयोग के वश, जबरदस्ती के वश उसने ऐसा कहा, उसने ऐसा किया, एक छल करने के लिए लेख लिखना कूटलेख क्रिया नाम का अतिचार है। (४) कोई पुरुष स्वर्ण चाँदी रूपया पैसा आदिक धरोहर किसी के पास रख जाये और वह वापिस आकर कुछ कम माँगने लगे, उसको स्मरण न रहा कि मैं कितनी रख गया था सो वह कम माँगे तो उसे बड़े भले वचन कहकर कि हां ले जाइये, उतना दे देना, बाकी अधिक जो बचा है उसे हड्डप लेना इस क्रिया में जो वचन बोले गए हैं वह न्यासापहार नाम का अतिचार है। (५) प्रकरण और चेष्टा आदिक से दूसरे के अभिप्राय को समझकर

ईर्ष्यावश उस अभिप्राय को प्रकट कर देना साकार मंत्रभेद है। यह सत्याणुब्रत का ५ वां अतिचार है। सत्याणुब्रत ग्रहण करने वाले को ऐसे ५ प्रकार के व्यवहार न करने चाहिए। और यदि कुछ सत्यब्रत का सम्बंध लगाव रखकर भी कर रहा है तो यह सत्याणुब्रत का अतिचार कहलाता है। अब अचौर्याणुब्रत के अतिचार कहते हैं।

## सूत्र 7-27

**स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमनोन्मानप्रति रूपकव्यवहारः ॥७-२७॥**

(१९६) अचौर्याणुब्रत के पांच अतिचार—अचौर्याणुब्रत के ५ अतिचार ये हैं—[१] स्तेनप्रयोगः चोरी का प्रयोग करना, यहाँ चोरी कराने के तीन प्रयोजन होते हैं—एक तो चोरी करने वाले को स्वयमेव प्रेरणा करना, दूसरे चोरी करने वालों को दूसरे के द्वारा प्रेरणा कराना, तीसरे चोरी में लगे हुए को अनुमोदित करना ये सब स्तेनप्रयोग कहलाते हैं। यह अचौर्याणुब्रत का प्रथम अतिचार है। इसमें स्वयं तो चोरी नहीं की किन्तु चोरी के उपायों में इसने मदद की इस कारण ये अतिचार हैं। (२) चोरों के द्वारा लाये हुए धन को ग्रहण करना सो तदाहृ-तादान है। इसमें दोष यह है कि दूसरों को पीड़ा पहुंचाने का यह कारण बना क्योंकि चोर तो चोरी करके लाया और इसने उस धन को खरीदा तो उनको आगे का मार्ग मिल गया, सो पर की पीड़ा हुई, राजा का भय भी यहाँ है। कोई राजा समझ ले कि यह चोरी का माल लेता है तो उसका तो सारा धन छीन लिया जा सकता। तो यह तदाहृतादान अचौर्यब्रत का अतिचार है। (३) विरुद्धराज्यातिक्रम—जो कानून के खिलाफ हो उस राज्यनीति का उल्लंघन करना यह विरुद्धराज्यातिक्रम है। इसमें यह भी बात गर्भित है कि उचित न्याय से भिन्न अन्य प्रकार से दान ग्रहण करना, लेना सो अतिक्रम है। जैसे अल्प मूल्य में प्राप्त होने योग्य महान कीमती द्रव्य को लेना। जैसे कोई हीरा खरीद लाया है, वह जानता है कि इसका बहुत मूल्य है फिर भी थोड़े मूल्य में ले लेना यह अतिक्रम है। (४) हीनाधिकमानोन्मान—मान और उन्मान दो तरह के रूप होते हैं। मान तो धान आदिक मायने के बर्तन प्रस्थ आदिक होते हैं और उन्मान किलो आधा किलोग्राम आदिक होते हैं। तो यहाँ न्यूनमान से तो दूसरे को देना और बड़े मान-मान बाट से दूसरे का ग्रहण करना आदिक जो क्षण का प्रयोग है वह हीनाधिक मानोन्मान है। (५) प्रतिरूपक व्यवहार असल में कोई दूसरी चीज मिलाकर लेने देन का व्यवहार करना अर्थात् कुछ मिलावट करके देना लेना यह ५वां अतिचार है। इसमें यद्यपि सीधा ही केवल देते हुए का ग्रहण नहीं किया, फिर भी ऐसा कार्य करना दोष कहलाता है। अब ब्रह्मचर्याणुब्रत के ५ अतिचार कहते हैं।

## सूत्र 7-28

**परविवाहकरणेत्वरिकाऽपरिग्रहीतागमनानङ्कीडाकामतीब्राभिनिवेशाः ॥७-२८॥**

(१९७) ब्रह्मचर्याणुब्रत के पांच अतिचार—ब्रह्मचर्याणुब्रत के ५ अतिचार इस प्रकार है—(१) परविवाहकरण। विवाह कहते हैं सातावेदनीय और चारित्र मोहनीय के उदय से कन्यावरण करना विवाद कहलाता है। यों दूसरे के विवाह का करना परविवाहकरण कहलाता है। जैसे किसी को शौक या धुन होती है कि एक लड़के का किसी लड़की से सगाई सम्बंध बने तो उसमें जो उत्सुकता और प्रयोग होता है वह ब्रह्मचर्याणुब्रत वाले के लिए

दोष है। (२) अपरिग्रहीताइत्वरिकागमन। इत्वरिका कहते हैं खोटी चलन वाली स्त्री को। जिस स्त्री ने ज्ञानावरण का क्षयोपशम पाकर कुछ कला सीखी है, गुणों को जानता है तथा चारित्र मोहनीय और स्त्रीवेद के उदय से अंगोपांग नामकर्म के उदय से योग्यता पायी है सो वह यदि परपुरुषों से गमन करे, ऐसा स्वभाव बनाये तो उसको इत्वरिका कहते हैं। यदि वह विवाहित है अथवा वैश्या आदिक है तो वह अपरिग्रहीता कहलाती है। ऐसी कुशील स्त्री के साथ संबंध रखना यह ब्रह्मचर्याणुव्रत का दूसरा अतिचार है। (३) परिग्रहीता इत्वारिकागमन—जो स्त्री कुशील स्वभाव की है और विवाहित है तो ऐसी स्त्री के साथ गमन करना, संबंध रखना ब्रह्मचर्याणुव्रत का तीसरा अतिचार है। (४) अनन्यक्रीड़ा—कामसेवन के अंगों में भिन्न अंगों के प्रयोग में कामसंस्कार जगना या विषयसेवन करना यह ब्रह्मचर्याणुव्रत का चौथा अतिचार है। (५) कामतीव्रानभिनिवेश—काम के बढ़े हुए परिणाम को कामतीव्रानभिनिवेश—कहते हैं। ये ५ स्वदारसंतोष व्रत के अतिचार हैं। इस चौथे व्रत का नाम स्वदारसंतोष भी है, जिसका अर्थ है अपनी स्त्री में संतोष करना। उस व्रत के ये सब अतिचार हैं। यहाँ एक शंकाकार, कहता है कि इसमें तो अनेक अतिचार छूट गए। जैसे कि कोई दीक्षिता है, संन्यासिनी है या अतिबाला है, तिर्यञ्चयोनि वाली है, गाय घोड़ी आदिक इनका कोई यहाँ संग्रह नहीं हुआ, कोई पुरुष यदि इसके साथ गमन करे तो क्या वह अतिचार नहीं है? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि इस व्रत में जो ५ वाँ अतिचार कहा गया है—कामतीव्रानभिनिवेश याने कामविषयक तीव्र वासना होना इसमें ये सब गर्भित हो जाते हैं। जो परिहार के योग्य है ऐसे दीक्षिता संन्यासी—आदिक में अगर कोई गमन वृत्ति करे तो वह काम की तीव्र वासना के कारण ही होता है। अतएव वह सब पंचम अतिचार में गर्भित है। इन सब अतिचारों में राजभय लोक के अपवाद आदिक अनेक दोष हैं और मुख्य दोष तो अपने परिणामों की मलिनता है। ये सब चतुर्थ व्रत के अतिचार कहे गए हैं। अब पंचम परिग्रह विरति नामक व्रत के अतिचार कहते हैं।

## सूत्र 7-29

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमा: ॥७-२९॥

(१९८) परिग्रहविरतिनामक पंचम् अणुव्रत के अतिचार—परिग्रह विरति नामक व्रत के ५ अतिचार इस प्रकार हैं—[१] भेदवस्तुप्रमाणातिक्रम—खेत और मकान के परिमाण का उल्लंघन कर देना। इस ब्रती ने व्रत धारण करते समय खेत मकान आदिक सबका परिमाण रखा था। सो उसकी सीधी संख्या में परिमाण का उल्लंघन करने में व्रत भंग है, किन्तु किसी युक्ति से उस कल्पित परमाणु का उल्लंघन करना यहाँ अतिक्रम कहा गया है। जैसे किसी ने चार खेतों का परिमाण रखा था, अब ५ वाँ खेत उसके पास का बिक रहा है उसे खरीद लिया तो उसके साथ ही यह खेत की मेड़ तोड़ देना जिससे कि चार ही कहलाये तो यह अतिक्रम है। ऐसे ही मकान के सम्बन्ध में जानना किसी ने एक ही मकान रखा था और पास का ही मकान बिक रहा उसे खरीद लिया और तुरन्त ही अपनी दीवाल में से एक द्वार निकाल लिया, जिससे दूसरे मकान में अपने घर में से आना जाना बन गया और उसे एक ही मकान समझा लिया तो यह अतिक्रम है। इसमें व्रत के समय किए गए इरादे का घात है। [२] हिरण्यस्वर्णप्रमाणातिक्रम—सोने चांदी के परिमाण का उल्लंघन करना सीधे परिमाण

का उल्लंघन करना तो वह अनाचार है, पर इसमें हो युक्ति से कुछ बढ़ा लेना, जैसे स्वर्ण बढ़ा लिया, चांदी घटा ली या अन्य कुछ उसमें छल बनाया तो वह अतिक्रम कहलाता है । [३] धनधान्यप्रपाणातिक्रम—रुपया पैसा आदिक धन कहलाते हैं अनाज धान्य कहलाते हैं अथवा गौ आदिक भी धन कहलाते हैं । इन सबके परिमाण का उल्लंघन करना यह परिग्रह विरति का तीसरा अतिचार है । [४] दासीदास प्रमाणातिक्रम—जो सेवक और सेविकाओं का परिमाण किया गया था उसका सीधा तो उल्लंघन किया नहीं संख्या में, किन्तु दासी कम कर ली दाम बढ़ा लिया आदिक ढंग से परिमाण का उल्लंघन करना यह परिग्रहविरति का चौथा अतिचार है । [५] कुप्यभाण्डप्रमाणातिक्रम—कुप्य कहते हैं वस्त्रों को और मारण्ड कहते हैं बर्तनों को । किसी देश में बर्तनों को भाड़ा भी कहा जाता है । इनका परिमाण उल्लंघन करना यह ५ वां अतिचार है । इसमें भी सीधी संख्या का तो उल्लंघन नहीं किया, किन्तु जैसे वस्त्रों का परिमाण ५० गज रखा तो रखना तो ५० गज है मगर और बड़ा पना कर लेना अथवा दोहरा सिलवाकर ५० गज में ही मान लेना इस प्रकार के उल्लंघन को ५ वां अतिचार कहते हैं । लिये हुए परिमाण का उल्लंघन तीव्र लोभ के अभिप्राय से होता है, अतः ये ५ परिग्रह विरति ब्रत के अतिचार दोषरूप हैं । इस प्रकार ब्रतों के अतिचार तो कहे गए, अब शीलों के अतिचार कहे जायेंगे इन शीलों में प्रथम नाम है दिग्ब्रत, सो दिग्ब्रत के अतिचार कहते हैं ।

## सूत्र 7-30

**ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ॥ ७-३० ॥**

(१९९) दिग्वरति ब्रत नामक शील के अतिचार—दिग्ब्रत के ५ अतिचार इस प्रकार है—(१) ऊर्ध्वव्यतिक्रम, व्यतिक्रम सीमा के उल्लंघन करने को कहते हैं । दिशाओं में जाने का जितना परिमाण रखा था उस परिमाण की अवधि का उल्लंघन करना अतिक्रम है । ऐसा अतिक्रम तीन प्रकार से हो सकता है । ऊपर की दिशाओं में अधिक जाना, नीचे अधिक जाना और दिशाओं में अधिक जाना, उनमें से सर्वप्रथम है ऊर्ध्वातिक्रम, पर्वत पर, वृक्ष पर, ऊँचे टीले पर चढ़ते जायें और कुछ सीमा से अधिक हो गया हो (२) अधःव्यतिक्रम उतना आदिक विधि से नीचे अधिक गमन करना यह अधोव्यतिक्रम है । (३) दिशाओं विदिशाओं में जैसे कहीं बिलों में प्रवेश किया, पर्वतों की दरारों में प्रवेश किया आदिक रूप से दिशा विदिशा में गमनागमन बढ़ाना तिर्यक व्यतिक्रम है । (४) पहले योजन कोश आदिक परिमाण से दिशाओं का परिमाण किया गया था । (५) लोभवश उससे अधिक की इच्छा करना यह क्षेत्रवृद्धि कहलाती है । यह दिग्ब्रत ५वां अतिचार है । यहाँ कोई शंका करता है कि क्षेत्रवृद्धि कर लेना यह तो कुछ परिमाण में अर्थात् पंचम अणुब्रत में गर्भित हो जाता है । इस कारण इसका ग्रहण न करना चाहिए । ग्रहण करते हैं तो पुनरुक्त दोष हो जाता है । इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यह शंका ठीक नहीं है । पहले जो इच्छा परिमाण किया है वह तो खेत मकान आदिक सम्बंधी है और यह जो इच्छा बढ़ा रहा है वह दिशाओं सम्बंधी है । इन दिशाओं में लाभ होने पर जीवन है, अलाभ होने पर मरण है । इस प्रकार की स्थिति में भी अन्य जगह लाभ हो रहा हो तो भी गमन न करना अर्थात् तृष्णा में न बढ़ाना, मर्यादा से आगे गमन न करना दिग्ब्रत है । दिशाओं का खेत मकान आदिक की तरह परिग्रहवृद्धि रखकर अपना

कजा, करके परिमाण नहीं किया जाता, किन्तु इन दिशाओं को मर्यादा का उल्लंघन प्रमाद से, मोह से, चित्त के व्यासंग से हो जाता है। इस प्रकार ये दिग्ब्रत के ५ अतिचार कहे गए हैं। अब देशब्रत के अतिचार कहते हैं।

## सूत्र 7-31

**आनयनप्रेष्यप्रयोगशगदरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ॥७-३१॥**

(२००) देशविरति ब्रतनामक शील के अतिचार—देशब्रत के ५ अतिचार इस प्रकार है—[१] आनयन—देशब्रत में जितने समय के लिए जितने क्षेत्र में मर्यादा की है उस क्षेत्र से बाहर कोई व्यक्ति खड़ा है तो उसको कुछ पदार्थ लेने की आज्ञा देना यह आनयन अतिचार है। उस क्षेत्र से बाहर यह ब्रती स्वयं नहीं गया, इस कारण अनाचार तो नहीं है पर दूसरे व्यक्ति को भेजा इस कारण यह अतिचार है। [२] प्रेष्यप्रयोग—प्रेष्य कहते हैं सेवक को, जिसको भेजा जाता है सो स्वीकृत मर्यादा से बाहर स्वयं भी नहीं गया, दूसरे को नहीं बुलाया किन्तु अपने सेवक द्वारा प्रयोग कराना यह प्रेष्य प्रयोग है। [३] शब्दानुपात—जितने समय के लिए क्षेत्रमर्यादा की है उससे बाहर कोई नौकर आदिक खड़ा है तो उसे खांसकर या अन्य प्रकार शान्त करके उस कार्य को करवाना यह शब्दानुपात है। ये सब अतिचार क्यों कहलाते हैं कि इन ब्रतों का प्रयोजन था कि लोभ और आरम्भ से हटकर इस ही क्षेत्र में अपना आरम्भ करना ताकि विशेष पाप न हो। लेकिन इस उद्देश्य का विधात है, इन कार्यों में इस कारण यह अतिचार है। [४] मर्यादा से बाहर कोई खड़ा हो तो उसको अपना शरीर ऐसा दिखाना जिससे यह समझता है कि मुझे देख देखकर काम जल्दी हो जायेगा। इस अभिप्राय से शरीर दिखाने को स्वानुपात कहते हैं। [५] पुद्गलक्षेप—मर्यादा से बाहर खड़े हुए नौकर चाकरों को संकेत करने के लिए कंकड़ पत्थर आदिक फेंकना पुद्गलक्षेप कहलाता है। इन अतिचारों में खुद ने मर्यादा तो नहीं लाँधा, पर अन्य से काम करवाना है इसलिए यह अतिचार कहलाता है। अब अनर्थदण्ड ब्रत के अतिचार कहते हैं।

## सूत्र 7-32

**कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि ॥७-३२॥**

(२०१) अनर्थदण्डविरति ब्रत नामक शील के कंदर्प कौत्कुच्य व मौखर्य अतिचार—अनर्थदण्डब्रत के ५ अतिचार इस प्रकार है—(१) कंदर्प—चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न हुए राग के वेग से मजाक संयुक्त जो अविशिष्ट वचनों का प्रयोग होता है उसे कंदर्प कहते हैं। यह कंदर्प-अनर्थ-दण्ड है अथवा उसने साक्षात् कोई बध आदिक नहीं किया फिर भी बिना प्रयोजन ही इस प्रकार के वचन का प्रयोग करना उचित नहीं है। उसे अनर्थदण्ड विरति का अतिचार कहा गया है। (२) कौत्कुच्य—राग के वेग से तो हास्यमयी वचन बोले जाते हैं, सो वह हास्य भरा तो है ही, पर साथ ही वे अशिष्ट अभद्र वचन हैं ये दोनों ही बातें जब दूसरे के प्रति खोटे काय की प्रवृत्ति के साथ की जाती हैं तो उसे कौत्कुच्य कहते हैं अर्थात् खोटी हंसी के वचन बोलना, बुरे वचन बोलना और उसके साथ ही साथ शरीर की बुरी चेष्टा दिखाना यह कौत्कुच्य कहलाता है। (३) मौखर्य—अभद्रता से जो कुछ भी अनर्थ बहुत वचन बोलना, अधिक बकवास करना मौखर्य कहलाता है। जो मनुष्य

अधिक बोलता है उससे कितने ही अनर्थ हो जाया करते हैं इस कारण बकवास करना अनर्थदण्डविरति का अतिचार है।

[२०२] अनर्थदण्डविरति व्रत का असमीक्ष्याधिकरण नामक अतिचार—[४] असमीक्ष्याधिकरण अर्थात् बिना विचारे ही कुछ अधिक प्रवृत्ति कर डालना। प्रयोजन तो इसमें कुछ भी नहीं विचारा गया कि मैं किसलिए ऐसी प्रवृत्ति करूँ और यों ही किसी विषय में भोगप्रवृत्ति कर लेना यह अनर्थदण्डविरति का चौथा अतिचार है। यह अधिकरण तीन प्रकार से होता है—शरीर द्वारा अधिक प्रवृत्ति, वचन द्वारा अधिक प्रवृत्ति, कायाधिकरण तो यह है कि प्रयोजन के बिना जाना हुआ, ठहरा हुआ, खड़ा होता हुआ, बैठता हुआ सचित्त अचित्त पत्र फूल फलों का छेदन करना, भेदन करना, कूटना, फेंक देना यह कायिक अधिकरण है तथा अग्नि विष आदिक वस्तुओं का प्रदान प्रारम्भ करना यह सब बिना विचारे कायिक अधिकरण है। बिना विचारे वाचनिक अधिकरण क्या है कि बिना प्रयोजन कथा कहानियों का वर्णन करना तथा दूसरों को पीड़ा पहुंचे इस प्रकार का कुछ भी वचन बोला जाना यह वाचनिक अधिकरण है। मानसिक अधिकरण क्या है? दूसरे का अनर्थ करने वाली बात विचारना अथवा रागभरे काव्य आदिक का चिन्तन करना यह सब मानसिक बिना विचारे अधिकरण है।

(२०३) अनर्थदण्डविरति व्रत का उपभोगपरिभोगानर्थक्य नामक पञ्चम अतिचार—[५] जितने पदार्थों से उपभोग परिभोग हो सकते हैं उसके लिए उतने ही पदार्थ रखने बताये गए हैं,। उसने अतिरिक्त रखना गह भोगोपभोगानर्थक्य नामक, अतिचार कहलाता है। यहाँ एक शंका होती है कि भोगोपभोग की चीजें अधिक रखना यह तो भोगोपभोग परिमाण व्रत में बताया ही जा चुका है। इसका उस ही व्रत में अन्तर्भाव हो जायेगा। फिर इसे कहना पुनरुक्त कहलाता है, अतः इसका ग्रहण न करना चाहिए। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यह शंका यों युक्त नहीं है कि भोगोपभोग परिमाण व्रत का अर्थ और यह कहा गया पञ्चम अतिचार का अर्थ शंकाकार ने ठीक तरह से नहीं समझा। भोगोपभोग परिमाण व्रत में तो अपनी इच्छानुसार भोग और उपभोग की वस्तुओं का परिमाण किया गया था और इस तरह अन्य वस्तुविषयक पापवृत्ति का पूरा त्याग हो चुका था। इस सूत्र में जो पञ्चम अतिचार कहा है उसका प्रयोजन यह है कि पहले भोगोपभोग परिमाणव्रत में जितना भी वस्तु का परिमाण किया गया है उस परिमाण किए गए के अन्दर ही जो बात अनावश्यक है उसे रखना यह पञ्चम अतिचार कहलाता है। फिर भी एक शंका हो सकती है कि भोगोपभोग परिमाणव्रत के अतिचार कहे गए थे, उस ही में इसका अन्तर्भाव हो जायेगा, सो भी शंका ठीक नहीं है। उनके भोगोपभोग परिमाण व्रत के जो अतिचार कहे गए हैं वे सचित्त आदिक के सम्बन्धरूप से मर्यादा का उल्लंघन करने की सूचना के लिए थे। यहाँ वह प्रयोजन नहीं रखा गया है। ये सब अनर्थदण्ड व्रत के अतिचार बताये गए हैं। अब सामायिक नामक शिक्षाव्रत के अतिचार कहते हैं।

## सूत्र 7-33

योगदुःप्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥७-३३॥

(२०४) सामायिक शिक्षाव्रत नामक शील के अतिचार—सामायिक शिक्षाव्रत के ५ अतिचार इस प्रकार है—

(१) काययोगदुःप्रणिधान । दुःप्रणिधान कहते हैं खोटे प्रयोग को अथवा उल्टे प्रयोग को । शरीर का खोटा प्रवर्तन करना, सामायिक में होने वाली चेष्टाओं से विपरीत प्रवृत्ति करना काययोगदुःप्रणिधान है । (२) वचनयोगदुःप्रणिधान—वचनों का सही प्रयोग न होना, उल्टा प्रयोग होना जिसमें वर्गों का संस्कार नहीं रहता, अर्थ का भी परिचय नहीं हो पाता या वचनों में चंचलता रहती है वह सब वचनयोगदुःप्रणिधान है । (३) मनोयोगदुःप्रणिधान—अपने मन को शुद्ध तत्त्व के चिंतन मनन के लिए समर्पित न करना, अन्य बातों का चिंतन मनन करना यह सामायिक शिक्षाव्रत का तीसरा अतिचार है । (४) जैसा कि सामायिक व्रत में करना चाहिए उसके प्रति सावधानी नहीं है और किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति हो अनुत्साह हो उसमें आदरभाव ही न हो तो वह अनादर नाम का चौथा अतिचार है । किसी तत्त्व में एकाग्रचित्त होकर चिंतन में नहीं चल रहा, मन समाधानरूप नहीं है, अतएव सामायिक में की जाने वाली क्रियाओं का या पाठ आदिक का भूल जाना स्मृत्यनुपस्थान नाम का ५ वाँ अतिचार है ।

(२०५) सामायिक शिक्षाव्रत के तृतीय व पञ्चम अतिचार में अन्तर प्रदर्शन—यहां एक शंका होती है कि इस ५वें अतिचार का तो मनोयोग दुःप्रणिधान नाम के अतिचार में ही अन्तर्भाव हो जाता है । योग्य क्रियाओं को भूल जाना यह ही तो मन का विषम प्रवर्तना है । इस कारण स्मृत्यनुपस्थान का ग्रहण करना अनर्थक है । इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि मन के दुःप्रणिधान में तो अन्य का चिन्तन चलने लगता था । मन किसी भी विषय में दौड़ता था । वहां तो जो कुछ भी विचारते हुए या न विचारते हुए विषयों में क्रोधादिक का भाव आ जाना या उदासीनता से मन को गिरा लेना आदिक बातें होती थीं, किन्तु इस पंचम अतिचार में विचार तो अन्य जगह नहीं चलाया जा रहा है, सामायिक के योग्य प्रवृत्तियों में मन को चलाना चाह रहा है, पर परिस्पन्दन होने से, मन की अस्थिरता होने से उन सामायिक योग्य बातों में एकाग्रता से नहीं लग पा रहा, इस प्रकार तीसरा अतिचार और पंचम अतिचार में परस्पर भिन्नता है अथवा रात और दिन की नित्य क्रियाओं का प्रमाद की अधिकता के कारण से भूल जाना यह स्मृत्यनुपस्थान कहलाता है । ये ५ सामायिक शिक्षाव्रत के अतिचार हैं । अब प्रोष्ठोपवास आदिक व्रत के अतिचार कहते हैं ।

## सूत्र 7-34

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥७-३४॥

(२०६) प्रोष्ठोपवास शिक्षाव्रत नामक शील के अतिचार—प्रोष्ठोपवास व्रत के ५ अतिचार इस प्रकार है—  
 (१) अप्रत्यवेक्षिता प्रमार्जितोत्सर्ग—चक्षु से न देखे गए को अप्रत्यवेक्षित कहते हैं और कोमल उपकरण से शुद्ध न किए गए को अप्रमार्जित कहते हैं । सो बिना देखी । बिना शोधी वस्तु को रख देना यह प्रोष्ठोपवास व्रत का पहला अतिचार है । प्रोष्ठोपवास व्रत में कुछ निर्बलता होने से ऐसा प्रमाद करने लगना कि चीजों को अगर कहीं धरने की आवश्यकता है तो जमीन शोधे बिना, ठीक तरह देखे बिना उस चीज को यों ही रख देना यह प्रोष्ठोपवास व्रत का पहला अतिचार है । बिना देखे शोधे जमीन में मलमूत्र क्षेपण करना यह प्रथम अतिचार है । (२) बिना देखे, बिना शोधे उपकरणों का ग्रहण कर लेना यह प्रोष्ठोपवास व्रत का दूसरा अतिचार है । जैसे

अरहंतदेव की, आचार्य की पूजा करते हुए उन पूजा के उपकरणों का या अपने वस्त्रादिक वस्तुओं का बिना देखे, बिना शोधे ग्रहण कर लेना यह प्रोष्ठोपवास व्रत का दूसरा अतिचार है। इसमें प्रमाद बसा है और अहिंसा की उपेक्षा की गई है, इस कारण यह दोषरूप है। (३) बिना देखे, बिना शोधे बिस्तर, चटाई आदिक का बिछा देना यह प्रोष्ठोपवास व्रत का तीसरा अतिचार है। इसमें प्रसाद का और अहिंसा के प्रति उपेक्षा का दोष बनता है। (४) प्रोष्ठोपवास व्रत में जो कुछ प्रवृत्तियाँ आवश्यक हैं उनमें आदर न होना, निरुत्साह होकर व्रत करना, सो अनागत नामक। चौथा अतिचार है। प्रोष्ठोपवास में क्षुधा आदिक की तो वेदना होती है उस वेदना से मलिन होकर प्रमाद करना, योगक्रिया में आदर करना सो यह दोष है। (५) स्मृत्यनुपस्थान—प्रोष्ठोपवास में की जाने वाली योग्य क्रियाओं का भूल जाना स्मृत्यनुपस्थान कहलाता है। ये ५ प्रोष्ठोपवास व्रत के अतिचार हैं। अब भोगोपभोग परिमाण व्रत के अतिचार कहते हैं।

## सूत्र 7-35

**सचित्तसम्बन्धसम्मिश्रमिष्वदुष्पक्वाहाराः ॥७-३५॥**

(२०७) भोगोपभोगपरिमाणशिक्षाव्रत नामक शील के अतिचार—भोगोपभोग परिमाण व्रत के ५ अतिचार इस प्रकार है—[१] सचित्त वस्तु का प्रयोग करना सचित्त नाम का प्रथम अतिचार है। [२] सचित्त सम्बन्ध सचित्त पदार्थ से संसर्ग की हुई वस्तु का उपयोग करना भोगोपभोग परिमाण व्रत का दूसरा अतिचार है। [३] सचित्तसम्मिश्र—सचित्त पदार्थ का अचित्त में मेल कर देना यह तृतीय अतिचार है। द्वितीय अतिचार में तो सचित्त का केवल संसर्ग ही था, किन्तु इस तृतीय अतिचार में सचित्त सूक्ष्म जंतुओं से भी आभार मिश्रित हो गया कि जिसका विभाग ही नहीं किया जा सकता है। प्रमाद के कारण या मोह के कारण क्षुधा आदि से पीड़ित व्यक्ति जल्दी मचाता है भोजन-पान करने में, सो वहाँ सचित्त आदिक का संबंध मिश्रण या रख देना आदिक प्रवृत्तियाँ हो जाती है। [४] अमिषव—जो उत्तेजक पदार्थ हैं उनका भोजन करना अमिषव नाम का अतिचार है। [५] दुष्पक्वाहार—जो भोजन अच्छी तरह नहीं पकाया गया वह दुष्पक्वाहार कहलाता है। दुष्पक्वाहार करने से इन्द्रियां मत्त हो जाती हैं और ऐसे सचित्त आदिक के प्रयोग से इन सभी के प्रयोग से जो अतिचार में बताया गया है, शारीरिक बाधा भी होती है, वायु आदिक दोष का प्रकोप हो जाता, फिर उसका प्रतिकार करना पड़ता, उसके आरम्भ में पाप होते, इस कारण सचित्त सम्बन्ध वाले आदि जितने भी हेय आहार बताये गए हैं उनका करना ये भोगोपभोग परिमाण व्रत के अतिचार कहलाते हैं। अब अतिथिसम्बिभाग व्रत के अतिचार कहते हैं।

## सूत्र 7-36

**सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ॥७-३६॥**

(२०८) अतिथिसंविभागशिक्षाव्रत नामक शील के अतिचार—अतिथिसम्बिभागव्रत के ५ अतिचार इस प्रकार है—[१] सचित्तनिक्षेप—सचित्त कमल के पत्र आदिक पर भोजन का रख देना सचित्त निक्षेप है। सचित्त पदार्थ है याने हरे पत्ता आदिक पर प्रासुप भोजन का रख देना यह अतिथिसम्बिभाग व्रत का क्यों अतिचार है? उसका

कारण यह है कि किसी गृहस्थ के मन में यह भाव आ सकता है कि यह अनिष्ट चीज यदि सचित्त पत्ते पर रख दी जाये तो वह फिर पात्र को देने लायक न रहेगा और घर में उसका उपयोग हो जायेगा । तो भावों में मलिनता इस ढंग की आये तो वह अतिथिसम्बिभाग व्रत का अतिचार है अथवा अज्ञानकारी हो या उलायत हो और सचित्तपत्र पर रख दिया जाये तो वह अतिथिसम्बिभाग व्रत में दी जाने पर दोष कहलाता है । [२] सचित्ताविद्यान—सचित्त कहते हैं हरे पत्ते आदिक को और अविद्यान कहते हैं ढकने को । भोजन तो शुद्ध प्रासुप हम, पर उसे हरे पत्ते आदिक से ढक दें तो वह अतिथि को देने लायक नहीं रहता । तो इसमें भी सचित्तनिक्षेप की तरह दोष आता है । [३] परब्यपदेश—दूसरे के नाम के बहाने देना, इसका दाता दूसरी जगह है, यह देय पदार्थ अमुक व्यक्ति का है, यह तो लेना ही है, इस तरह दूसरे का बहाना करके देना परब्यपदेश कहलाता है । ऐसा करने में थोड़ा मन में पात्र को भले प्रकार खिलाने के लिए कुछ छल का अंश आता है, इस कारण दोष है । [४] मात्सर्य—दान दिया जा रहा है तो भी आदर के बिना अथवा किसी को मात्सर्य करके दान देना यह चतुर्थ अतिचार है । इसमें दाता को यह मात्सर्य हुआ । अपना नाम कीर्ति बढ़ाने के लिए कि मैंने दूसरे से कम बार आहार नहीं दिया अथवा दूसरे से ज्यादा बार आहार दिया—इस प्रकार मात्सर्यवश आहार दान देना यह मात्सर्य नाम का अतिचार है । [५] कालातिक्रम—भोजन योग्य समय को टालकर अकाल में भोजन देना यह कालातिक्रम है अथवा श्रावकों के ऐसा नियम रहा करता है कि मैं प्रत्येक अमुक तिथि को आहारदान करूँगा और कदाचित् सुन रखा कि इस तिथि के एक दिन बाद पात्र सत्संग मिलेगा अथवा उससे पहले पात्र के विहार करने का समाचार मिला तो नियत दान देने की तिथि से पहले या बाद में दान करे, उस नियत तिथि के एवज में यह कालातिक्रम रहता है । इस प्रकार ५ अतिथिसम्बिभाग व्रत के अतिचार कहे गए हैं । यहाँ तक ७ शीलों के अतिचार भी कहे जा चुके । इस तरह ५ व्रत एक सम्यग्दर्शन और ७ शील यों १३ प्रकार के नियमों के अतिचार कहे गए हैं । अब सल्लेखना व्रत के अतिचार कहते हैं ।

## सूत्र 7-37

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ॥७-३७॥

(२०९) सल्लेखना के अतिचार—सल्लेखना के अतिचार इस प्रकार हैं—[१] जीविताशंसा—अर्थात् जीने की इच्छा करना, आशंसा अभिलाषा करने को कहते हैं । सल्लेखना व्रत तो धारण किया, पर मन में जीने की याद लग रही है—मैं और जीता रहूँ । वैसे जीना कौन नहीं चाहता? संसार के सभी जीवों को जिन्दगी प्यारी है, किन्तु यहाँ जब काय और कषाय से एकदम विरक्ति कर ली गई जिसे सल्लेखना कहते हैं तो ऐसी उच्च स्थिति पाने पर जीने की इच्छा होना यह दोष है । यह शरीर अवश्य नष्ट होगा, यह जल के बुद्बुदे के समान अनित्य है, यह कैसे ठहर जाये ऐसा जीवन के प्रति आदरभाव होना जीविताशंसा कहलाती है । [२] मरणाशंसा—रोगों के उपद्रव होने से चित्त आकुलित हो गया है और जीवन में संक्लेश बन गया है और धार्मिक वातावरण रहने से समाधिमरण का भी भाव कर लिया है, अब वहाँ मरण के प्रति उपयोग जाना कि न जाने कब मरण होगा, यह तो बड़ी वेदना है, इस प्रकार की अभिलाषा को मरणाशंसा कहते हैं । [३] मित्रानुराग—पहले जिसके साथ

मित्रता थी, धूल में खेले, बड़ी अवस्था में भी प्रेम रहा, सलाह रही तो उनके इन सम्बन्धों का स्मरण करना यह मित्रानुराग कहलाता है। इसने मेरे पर विपत्ति आने के समय बहुत रक्षा की, ऐसी-ऐसी विपत्तियों में इसने मेरा बहुत साथ दिया आदिक का भी स्मरण करना मित्रानुराग कहलाता है। अब सल्लेखना बात तो धारण किया, कुछ ही समय बाद इस शरीर को छोड़कर जाना है तो ध्यान किया जाना चाहिए सहजपरमात्मतत्त्व का, पर आत्मा और परमात्मा पर ध्यान तो खचित होता। और लौकिक मित्र जनों का चित्त में चित्रण कर रहा है तो यह मित्रानुराग समाधिमरण का दोष है। [४] सुखानुबन्ध—जो-जो सुख भोगे थे बचपन में, बड़े में, उन सब सुखों का स्मरण करना—मैंने ऐसा खाया, मैं ऐसा आराम करता था, इस तरह खेलता था आदिक प्रीति विशेष के प्रति स्मृति करना सुखानुबंध कहलाता है। अब मरण समय तो आ रहा है शरीर छोड़कर जाना है तो परमार्थतत्त्व का चिन्तन चलता था, पर वह चिन्तन न चलकर जो भोगे गए सुखों का चिन्तन चल रहा है वह यहाँ दोषरूप है। [५] निदान—विषयसुखों की उत्कर्षिता चाहना भोगाकांक्षा कहलाती है। भोगों की इच्छा से नियत चित्त दिया जा रहा है भोगों में तो वह निदान कहलाता है। निदान शब्द में नि तो उपर्युक्त है और दा धातु है, जिससे अर्थ बनता है कि भोगों की अभिलाषा के द्वारा नियत चित्त जिसमें दिया जाये वह निदान कहलाता है। ये ५ सल्लेखना के अतिचार हैं। अब जिज्ञासा होती है कि तीर्थकरप्रकृति के बन्ध के कारणों में शक्तिः त्याग, शक्तिः तप—ये दो बातें कही गई थीं और फिर शील व्रत के विधान में अतिथिसम्बिभाग व्रत बताया है। अतिथियों के लिए दान करना अतिथिसम्बिभाग व्रत है। तो दान का सही लक्षण ज्ञात न हुआ सो वह कहा जाना चाहिए, ऐसी जिज्ञासा होने पर सूत्र कहते हैं।

## सूत्र 7-38

**अनुग्रहार्थ स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥७-३८॥**

(२१०) दान का स्वरूप—अपने और पराये उपकार के लिए धन का त्याग करना दान कहलाता है। अनुग्रह का अर्थ अपना और पर का उपकार करना कहलाता है। तो जो पात्रदान किया जाता है उसमें पुण्य का संचय होना तो सोपकार है और अतिथि के सम्यग्ज्ञान संयम पालन आदिक में भी वृद्धि होती है तो वह परोपकार है। आहार देने से, ज्ञानसाधन देने से उनके ज्ञान संयम आदिक की वृद्धि होती है याने वह इस श्रेष्ठ मन वाले मनुष्यभव में आयु पाकर तत्त्वचिंतन से आत्मशुद्धि करता है। यों स्व और पर के उपकार के लिए स्व का अतिसर्ग करना अर्थात् त्याग करना दान कहलाता है। इस सूत्र के स्व शब्द का अर्थ है धन। यद्यपि स्व शब्द के अनेक अर्थ हैं चांदी धन आदिक फिर भी यहाँ स्व शब्द से धन वाच्य लिया गया है। याने अपने और पर के अनुग्रह के लिए धन का लगाना, त्याग करना दान कहलाता है। इस सूत्र में दान का स्वरूप कहा गया है पर उस दाने में क्या सदा एक जैसी पुण्यभाव प्रवृत्ति रहती है या कुछ विशेषता है। यह बात कहने के लिए सूत्र कहते हैं।

## सूत्र 7-39

**विधिद्रव्यदात् पात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥७-३९॥**

(२११) दान की विशेषताओं के कारणों का वर्णन—विधि द्रव्य, दाता और पात्र की विशेषता से दान में विशेषता होती है। विधि का अर्थ है पड़गाहना आदिक। उसमें पहले पड़गाहना यह अतिग्रह है, फिर उच्च आसन पर बैठालना यह दूसरा कार्य है। पश्चात् पादप्रक्षालन करना, पैर धोना यह तीसरा कार्य है। पीछे पूजा करना, गुणानुवाद करना अर्थात् हर्ष व्यक्त करना, पश्चात् प्रणाम करना, ऐसे ही आगे दान किया, विनयभाव रखना यह सब क्रियाविशेष का जो क्रम है उसका नाम है विधि। उस विधि में गुणकृत विशेषता आना विधिविशेष कहलाता है। यहाँ विशेष शब्द का सम्बन्ध चारों के साथ लगाया गया है। विधि विशेष के वर्णन के बाद अब द्रव्यविशेष की बात कहते हैं, दिए जाने वाले अन्न आदिक को जो ग्रहण करते हैं उन पात्रों का तप स्वाध्याय बढ़े, परिणामों में वृद्धि आवे उस प्रकार से द्रव्य विशेष आहारदान आदिक देना यह द्रव्य की विशेषता कहलाती है। दात्रि विशेष देने वाला पुरुष सरल परिणामी हो, दूसरे से स्पर्धा रखकर दान न देता हो किन्तु अपनी ही विनय प्रकृति से दान दे रहा है तो उसको ईर्ष्या नहीं और त्याग करने में विषाद नहीं। खुद देने की इच्छा करता है और देते हुए जिसको दिया जा रहा है उसमें प्रसन्नता का भाव आ रहा है, पुण्यभाव जग रहे हैं और जो उस दान का फल है भोगभूमि में उत्पन्न होना, तत्काल यश-कीर्ति होना, उन फलों की अपेक्षा न रखना, दूसरा दान देता हो तो इसमें बाधा न डालना और निदान न करना यह सब दाता की विशेषता कहलाती है। ऐसा उच्च गुणवान दाता दातृविशेष कहलाता है। पात्रविशेष—मोक्ष के कारण है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। उन गुणों के साथ जिसका योग है वह पात्र विशेष पात्र कहलाता है। यदि पात्रविशेष हों तो उनके लिए किया गया दान एक विशिष्ट पुण्य का कारण होता है। इन चार विशेषताओं के कारण दान में विशेषता आती है। अर्थात् उससे फलविशेष की प्राप्ति होती है। जैसे योग्य जमीन आदिक की विशेषता होने से उस पर सौंपा गया बीज अपने काल में कई सौ गुना फल देता है, ऐसे ही समझो कि विधि द्रव्य, दाता और पात्र इनकी विशेषता होने से दान में विशेषता आ जाती है।

(२१२) स्याद्वादसम्मत नित्यानित्यात्मक जीव में ही विधि आदि विशेषताओं की उपपत्ति—अब इस प्रसंग में दार्शनिकता की दृष्टि से देखने पर यह निर्णय होता है कि स्याद्वादियों यहाँ तो विधि आदिक की उपपत्ति बनती है अर्थात् ये सब ठीक हो जाते हैं, किन्तु जो आत्मा नहीं मानते उनके दर्शन की विधि आदिक का कोई स्वरूप नहीं बनता। यदि विधि आदिक का स्वरूप बनायेंगे तो सभी पदार्थ निरात्मक हैं, ऐसी जो उनकी मान्यता है उसे मिटाना पड़ेगा, इसी प्रकार जो क्षणिकवादी लोग हैं, जो मानते कि क्षणभर को विज्ञान उत्पन्न होता, उनके मत के अनुसार तो जो यह चर्चा है कि साधु संतज्जन व्रत, तप, स्वाध्याय आदि में लीन रहते हैं, वे पर अनुग्रह रखेंगे, इनके लिए दिया गया दान हमारी व्रत, शील आदि की भावना को बढ़ायेगा। यह सब अभिप्राय बन ही नहीं सकता क्योंकि उन क्षणिकवादियों ने आत्मा का कुछ अस्तित्व माना ही नहीं। वे तो मानते कि आत्मा क्षण-क्षण में नया-नया उत्पन्न होता। तो उनकी इस मान्यता के अनुसार वे सब अभिप्राय नहीं बन सकते। इसी प्रकार जो दार्शनिक आत्मा को नित्य अज्ञ और निष्क्रिय मानते हैं उनके यहाँ भी विधिविशेष आदिक नहीं बन सकता, क्योंकि जब आत्मा नित्य है तो उसमें कुछ परिणमन ही नहीं बन सकता, भाव भी नहीं बन सकता तो फिर ये विधि विशेष आदिक कैसे बनें? जिनका आत्मा अचेतन है अर्थात् ज्ञानगुण से रहित है, केवल ज्ञान

गुण का स्मरण होने पर ही आत्मा जान पाता है, ऐसा जिनका सिद्धान्त है तो उनका वह अज्ञ अचेतन आत्मा कैसे विधि आदिक का प्रसंग बना सकेगा और फिर मानो आत्मा जुदा है, ज्ञान जुदा है और ज्ञान के सम्बन्ध से आत्मा ज्ञानी बने तो आत्मा ज्ञानस्वभाव वाला तो नहीं बन सकता। जैसे डंडा के ग्रहण करने से कोई डंडे वाला बना तो कहीं वह पुरुष डंडे के स्वभाव वाला तो नहीं बन सकता। जो लोग आत्मा को सर्वव्यापी मानते हैं उनका आत्मा निष्क्रिय भी हो गया। अब उसकी विधि आदिक कैसे बनेगी? कोई दार्शनिक २४ प्रकार का क्षेत्र अचेतन प्रकृति का कहते हैं और उस क्षेत्र को जानने वाले पुरुष चेतन माने जाते, तो वहाँ पर भी तो वह सब परिणमन वाला क्षेत्र अचेतन का है, सो उसके विधि आदिक का अभिप्राय बन नहीं सकता है। जो अचेतन है वह बुद्धि की क्रिया कैसे कर सकेगा? और यदि प्रकृति में विधि आदिक के अभिप्राय हैं तो क्षेत्र अचेतन न रहा। यदि क्षेत्र निष्क्रिय आत्मा का माना जाये तो वहाँ विधि आदिक नहीं बनते। ये सब बातें तो स्याद्वाद में ही बन सकती हैं। क्योंकि वहाँ अनेकान्त का आश्रय है। आत्मा कथंचित् नित्य है कथंचित् अनित्य है, स्वरूपदृष्टि से नित्य है पर्यायदृष्टि से अनित्य है। तो उनका सम्बन्ध बनाकर यह जीव विधिविशेष आदिक विशेषताओं को कर सकता है। इस प्रकार दान का प्रकरण समाप्त होते ही यह सप्तम अध्याय समाप्त होता है।

(२१३) अष्टम अध्याय में द्रव्यबन्ध के विस्तार से वर्णन की सूचना—मोक्षशास्त्र के प्रथम अध्याय में मोक्षशास्त्र के वक्तव्य में रत्नत्रय जीवाधितत्त्व का प्रतिपादन करके उन सब तत्त्वों के जानने के उपाय प्रथम अध्याय में बताये गए हैं। दूसरे तीसरे और चौथे अध्याय में जीवतत्त्व का वर्णन किया है। सातवें अध्याय में अजीव तत्त्व का वर्णन किया है। छठे अध्याय में सामान्यतया आस्रव पदार्थ का वर्णन किया है। पंचम अध्याय में आस्रव के विशेषरूप पुण्यास्रव का वर्णन है किया है। यों ७ वें अध्याय तक आस्रव पदार्थ, पदार्थ बताये गए। अब बंध तत्त्व का वर्णन किया जाना चाहिए। आस्रव के पश्चात् सूत्रोक्त क्रम में बंधतत्त्व का क्रम वर्णन करने के लिए बैठता है। वह बंध चेतनबंध, अचेतनबंध अर्थात् चेतनद्रव्य का परिणामरूप बंध, अचेतनद्रव्य का परिणमन रूप बंध दो प्रकार का बंध है। चेतन द्रव्य का परिणामरूप बंध तो भावबंध की अवस्था है और अचेतन द्रव्य का परिणाम रूप बंध द्रव्यबंध की अवस्था है। इन बंधों का वर्णन (१) नामबंध (२) स्थापनाबंध (३) द्रव्यबंध और (४) भावबंध—इन चार रूपों से भी की जाती है। परं चार रूप तो एक पद्धति में हैं। इससे कहा जाता है द्रव्यबंध और भावबंध। उन दोनों में से द्रव्यबंध तो अनेक प्रकार के होते हैं। लाख को पेड़ में बंध जाना, काठ का काठ से बंध जाना, रस्सी का रस्सी से बंधना, सांकल का सांकल से बंधना, ये बहुत प्रकार के द्रव्यबंध हैं, परं यहाँ द्रव्यबंध विवक्षित है। कार्माणवर्गणावों में कर्मरूपता आना सो उसका वर्णन आगे किया जायेगा।

(२१४) प्रथम सूत्र में द्रव्यबंध के अथवा द्रव्यास्रव के हेतुवों के वर्णन की सूचना—यहाँ अभी द्रव्यबंध के अथवा द्रव्यास्रव के हेतु का वर्णन करेंगे। माता पिता पुत्र से स्नेह का सम्बन्ध बनना यह नोकर्म बंध है। इसमें भी भावबंध की झलक आयी है और द्रव्यबंध कहलाता है कार्माणवर्गणावों का बंध। वह परम्परा से तो चला आया और व्यक्तिगत रूप से जिस समय जिस प्रकृति का बंध है उस समय वह है यों आदिमान है, सो ऐसे

द्रव्यबंध का हेतुभूत जो भाव है याने बंध के जो कारण हैं उनका वर्णन किया जायेगा जिन भावों के द्वारा यह द्रव्यबंध चलता है। यदि कर्म का बंध सहेतुक न हो अर्थात् आत्मा के विभावपरिणाम का निमित्त पाकर बनता है द्रव्यबंध सो उसमें निमित्त न हो तब द्रव्यबंध अनन्त हो जायेगा। उसमें कभी नाश न हो पायेगा। यदि कारण न माना जाये और चूंकि द्रव्यबंध उस द्रव्य की योग्यता से होता है। इसका एकान्त किया जाये तब वह द्रव्यबंध सदा रहेगा और कभी मोक्ष न हो सकेगा क्योंकि जो अहेतुक चीज है वह कैसे बोली जा सकती है? कर्मबंध यदि अहेतुक हो तो कर्मबन्ध कभी टल ही न सकेगा। सो बंध तो हुआ कार्य और आत्मा के विभावपरिणाम हुए उस बंध के कारण, सो कार्य से पहिले कारणों का निर्देश किया जा रहा है, जिसके बाद फिर कर्मरूप द्रव्य का विस्ताररूप से वर्णन चलेगा। तो छठवें ७ वें अध्याय में जिनका विशेषरूप से वर्णन किया गया वे ही बंधन के हेतु हैं। सो उनको संक्षेप से सूत्र द्वारा कह रहे हैं।

## सूत्र 8-1

**मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥ ८-१ ॥**

(२१५) कर्मबन्ध के कारणों का निर्देश—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बंध के कारणभूत हैं। इन सब भावों का वर्णन यद्यपि पहले कहा जा चुका, पर उन विस्तारों का संक्षेप करके गुणस्थान परिपाठी के अनुसार संक्षिप्तरूप में इस सूत्र में कहा गया है। ये सब परिणाम पहले किस प्रसंग में कहे गए थे सो सुनो—मिथ्यादर्शन तो २५ क्रियावों में जो मिथ्यादर्शन आया है मिथ्यात्व किया, इसी प्रकार और भी अन्य क्रियायें हैं उनमें मिथ्यादर्शन का अन्तर्भाव होता है, अविरति है विरति का प्रतिपक्षी। विरति न हो तो अविरति है। सो विरति का वर्णन किया गया और विरति का प्रतिपक्षी भाव अविरति का भी वर्णन किया। साम्परायिक आस्रव का इन्द्रियकषायाः आदिक सूत्र में वर्णन किया गया है। प्रमाद का वर्णन कहां हुआ? तो उन २५ क्रियावों में आज्ञाव्यापादन किया, अनाकांक्ष क्रिया इसमें प्रमाद का अन्तर्भाव हो जाता है। प्रमाद का अर्थ यह है कि मोक्षमार्ग में आदर न होना और मन का समाधानरूप न होना ऐसा यह प्रमाद उन अनेक क्रियावों में शामिल है जिन क्रियावों में आस्रव बताया गया है। कषाय तो क्रोधादिक हैं ही, जिनका वर्णन अनेक जगह हुआ है। ये क्रोधादिक कहीं अनन्तानुबंधी पाये जाते हैं, कहीं अप्रत्याख्यानावरण हैं, कहीं प्रत्याख्यानावरण हैं, कहीं संज्वलनरूप हैं। इन कषायों का भी वर्णन इन्द्रिय कषायादिक सूत्र में कहा गया है। योग का वर्णन छठे अध्याय के प्रथम सूत्र में किया गया है। काय, वचन, मन की क्रिया को योग कहते हैं। तो इन सबका वर्णन पहले विस्तार से आया है। उन्हीं को ही संक्षिप्त प्रकारों में जो कि गुणस्थान के अनुसार घटित किया जा सकता, यहाँ वर्णन किया गया है।

(२१६) नैसर्गिक व परोपदेशनिमित्तक मिथ्यादर्शन का विवरण—मिथ्यादर्शन दो प्रकार का होता है—[१] नैसर्गिक, [२] परोपदेशनिमित्तक। जहाँ दूसरे के उपदेश के बिना मिथ्यात्वकर्म के उदय से जो यथार्थ तत्वों का श्रद्धा न होना ऐसा मिथ्या अभिप्राय बनता है वह नैसर्गिक मिथ्यादर्शन है। यह प्रायः सभी संसारी जीवों में पाया जाता है। जो संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव हैं और उनमें भी जो कोई धर्म की धुन वाले हैं पर स्याद्वाद का शासन

न मिलने से उनका प्रयोग और प्रकार हुआ है। सो वह परोपदेश निमित्तक है। नैसर्गिक मिथ्यादृष्टि एक इन्द्रिय से लेकर चौड़न्द्रिय तक तो वह ही है, पर पंचेन्द्रिय में भी अनेक नैसर्गिक मिथ्यादृष्टि हैं। दूसरे के उपदेश का निमित्त पाकर जो मिथ्यात्व जगता है वह चार प्रकार का समझिये। कोई क्रियावादी—जो क्रियाकाण्ड में ही मोक्ष का मार्ग मानते हैं कोई अक्रियावादी, कोई आज्ञानिक और कोई वैनिक हैं। ये सब परोपदेश निमित्तक मिथ्यात्व कहलाते हैं। इनमें क्रियावादी तो ८४ हैं। ८४ तरह के नेतावों ने यह सिद्धान्त निकाला है। इन क्रियावादियों में मुख्य नायक प्रसिद्ध प्रणेतावों के नाम ये हैं—कौकल, काठेविद्धि, कौशिक हरि, श्मशुमान, कपिल, रोमश, हारित, अश्वमुण्ड हैं। अक्रियावादियों के १८० प्रकार हैं, जिनका सिद्धान्त है कि कुछ भी न करना, मौज से रहना, कोई क्रियाकाण्ड न रहना, यही मार्ग व मुक्ति कहलायेगी, ऐसे अक्रियावादियों के प्रणेता मुख्य संन्यासियों के कुछ नाम इस प्रकार हैं—मरीचिकुमार, उलूक, कपिल, गार्घ्य, व्याघ्रभूति, वाद्वक्ति, माठर आदि अज्ञानवादी ६७ प्रकार के होते हैं, जिनका मुख्य सिद्धान्त है कि ज्ञान करना, ज्ञान का बढ़ना, यह संसार में फंसने का ही कारण होता है। इस कारण ज्ञान के लिए प्रयत्न कुछ नहीं करना, ऐसे ही रहना, यह ही मोक्ष का कारण बनेगा। इसके प्रणेता मुख्य हैं—पैष्पलाद, वादरायण, वसु जैमिनी आदि। वैनिकवाद ३२ प्रकार के हैं, जिनका सिद्धान्त है कि प्रत्येक देवताओं का विनय करने से मोक्ष होता है। इसके मुख्य प्रणेता वशिष्ठ पाराशार जतुकर्ण आदि हैं। ये सब परोपदेश के निमित्त से बने हुए मिथ्यादृष्टि ३६३ प्रकार के हैं।

(२१७) प्राणिवध को धर्महेतु बताने वाले वचनों की अप्रमाणता—यहाँ एक शंका होती है कि जैसे वेद में प्रसिद्ध वादरायण वसु जैमिनी आदिक ऋषि जो कि वेद में बतायी हुई क्रियावों के अनुसार ही अपना अनुष्ठान करते हैं वे कैसे अज्ञानी मिथ्यादृष्टि कहे जा सकते? उत्तर—चूँकि उनका प्राणियों के वध करने में धर्म मानने का अभिप्राय है और प्राणियों का वध नियम से पाप का ही कारण है, उसे धर्म का साधन बताते हैं तो वे कैसे अज्ञानवादियों में गर्भित न होंगे? शंकाकार कहता है कि यह तो आगम में लिखा है कि यज्ञ आदिक में प्राणियों का वध करना पुण्य का कारण है, धर्मरूप है, मोक्ष का मार्ग है। वेद आगम तो अपौरुषेय हैं। उसका कोई कर्ता हो तो आगम में दोष होता। यहाँ कर्तापन का दोष नहीं। किसी शास्त्र को कोई बनाये तो उसमें यह सम्भव है कि वह कर्ता रागद्वेषवश गलत भी लिख सकता है पर वेद तो किसी पुरुष ने बनाया नहीं है, उसमें प्रमाणता का संदेह ही नहीं हो सकता और उस वेदागम में प्राणियों के वध को धर्म माना है। इसलिए उनके रचयिता प्रणेता संन्यासी अज्ञानवादी में कैसे गर्भित होंगे? उत्तर—वह प्राणिवध बताने वाला आगम-आगम ही नहीं है। आगम तो वह होता है जो सर्वप्राणियों का हित करें। जो प्राणियों के हित में प्रवृत्त नहीं है, हिंसा का विधान करने वाला है वह वचन आगम कैसे हो सकता है? दूसरी बात यह है कि अपौरुषेय माने गये आगम में कहीं कुछ कहीं कुछ, ऐसी परस्पर विरोध की बातें भी आती हैं। जैसे कभी कहते हैं कि पुण्य प्रथम हैं कहीं कहते कि पुनर्वसु प्रथम हैं, कहीं कहेंगे कि तीन वर्ष के रखे हुए धान्य के बीज से यज्ञ करना चाहिए। तो उन वचनों में स्थिरता नहीं आयी, फिर प्राणिवध को कैसे धर्म का हेतु कहा जा सकता है? प्राणिवध का निषेध स्याद्वाद शासन में भलीभाँति किया गया है। सभी जगह हिंसा से विरक्त रहना ही श्रेयस्कर है।

(२१८) स्याद्वाद शासन की प्रामाणिकता व स्याद्वादशासन में हेय उपादेय सभी सिद्धान्तों का प्रतिपादन—यहाँ

कोई शंका करता है कि अरहंत देव का जो शासन है प्रवचन है वह प्रमाणभूत नहीं हो सकता, क्योंकि वह पुरुष का किया हुआ है? तो यह शंका करना ठीक नहीं है। कारण कि ये अरहंतदेव अतिशय ज्ञान के धारी हैं। ज्ञानावरण का विनाश होने पर जो आत्मा स्वच्छ सर्वज्ञ होता है उसके वचन प्रमाणभूत होते हैं। तो यह जीवादिक पदार्थों के स्वरूप का निरूपण चल रहा है। नय प्रमाण आदिक की जानकारी के उपायों से खूब कसकर निर्णीत किया गया है वह अतिशय ज्ञानधारी का कहा हुआ ही तो है, जिसमें कहीं भी किसी प्राणी का अहित नहीं बताया गया और वस्तु का जैसा स्वरूप है उसी प्रकार स्वरूप का वर्णन किया गया है। एक विशेष बात यह जाननी चाहिए कि जगत में जितने भी सिद्धान्त फैले हैं वे सब अरहंतदेव के द्वारा बताये गए हैं। जैसे पाप का स्वरूप भी भगवान ने बताया, पुण्य का स्वरूप भी भगवान ने बताया, ऐसे ही वस्तु का स्वरूप किन दृष्टियों से ठीक है, वह भी बताया और उनका एकान्त होने पर एक सिद्धान्त बनता है यह भी बताया है। तो जितने भी सिद्धान्त आज प्रसिद्ध हैं वे सब अरहंत भगवान के प्रवचन से निकले हुए हैं। कोई यहाँ यह शंका न रखे कि यह श्रद्धावश ही कहा जा रहा है। युक्ति से विचारें तो सही न बैठेगा। यह शंका यों न करना कि जब यह इसमें ज्ञानावरणादिक कर्मों से ग्रस्त है और यह कुछ ज्ञान नहीं कर पा रहा है तो जब वह आवरण सर्व दूर हो जाता है तो ज्ञानस्वभाव रखने वाले आत्मा का ज्ञान निर्दोष पूर्ण प्रकट हो जाता है। ऐसे ज्ञानी की दिव्यध्वनि से निकले हुए सर्व वचन प्रमाणरूप हैं। कहीं यह न समझना कि और जगह भी रत्न पाये जाते हैं तो रकाकर भूमि को ही क्यों कहा जाता? इसी प्रकार जब और जगह भी सिद्धान्त पाये जाते हैं तो सर्व सिद्धान्तों की खान अरहंत के प्रवचन को ही क्यों कहा जा रहा है? यह शंका यों न करना कि भले ही वे रत्न सर्वत्र भरे हुए हैं, मगर कहीं खान से निकले ही तो हैं, ऐसे ही ये सिद्धान्त आज बहुत फैले हुए हैं पर इनका निर्देश स्याद्वाद शासन में किया गया है। तो कोई यह भी कह सकता है कि जब सभी दृष्टियों का कथन स्याद्वाद शासन से निकला है, ये सब सिद्धान्त प्रमाणभूत हो जायेंगे तो यह बात यों युक्त नहीं है कि जैसे भूमि से रत्न निकलते हैं और भूमि से ही काँच आदिक निकलते हैं मगर कोई निःसार है, कोई सारभूत है तो ऐसे ही पाप पुण्य सबके व्याख्यान होते हैं मगर कोई सारभूत हैं, कोई साररहित हैं। जो अहिंसा से मेल खाते हैं वे सारभूत हैं और जो हिंसा से मेल करते हैं वे साररहित हैं। तो परोपदेश निमित्तक मिथ्यादर्शन याने अनेक सिद्धान्त जो प्रचलित हैं वे बंध के हेतुभूत हैं। इस तरह मिथ्यादर्शन को दो रूपों में जानना, कोई स्वयं होता है कोई दूसरे के उपदेश के कारण से होता है।

(२१९) प्राणिवध की सर्वत्र हेयता—यहाँ शंकाकार कहता है कि यज्ञ कर्म के अलावा अन्य अवसरों में प्राणियों का वध करना पाप के लिए होता है। यज्ञ के लिए प्राणिवध पाप के लिए नहीं होता। इसके उत्तर में कहते हैं कि देखिये—चाहे यज्ञ का भाव रखकर प्राणिवध हो, चाहे अन्य समय हो, प्राणी को कष्ट होता ही है और जहाँ कष्ट है वहाँ हिंसा है और जब दुःख हो रहा है उस प्राणी को और यह मारने वाला उसके कष्ट को देखते हुए भी खुश हो रहा है तो यह पाप करता है और फल भी हिंसा का ही पाता है। चाहे किसी पशु का वध यज्ञ की वेदी पर हो या उस वेदी से दूर पर हो, दोनों में ही दुःख है और दुःख का हेतु होने से कोई यज्ञ विधि भी दुःख फल देने वाली है और बाहर की हुई हिंसा भी दुःख देने वाली है। शंकाकार कहता है कि मनुस्मृति

में तो यह बतलाया है कि यज्ञ के लिए ही पशु रचे गए हैं, इस कारण जब पशु की रचना यज्ञ के लिए है तो पशुवध करने वालों को पाप न लगे। इसका उत्तर कहते हैं कि यह बात कहना बिल्कुल ही अयुक्त है। इसके उत्तर में कहते हैं कि यदि ऐसी हठ हो कि पशु यज्ञ के लिए ही रचे गए हैं तब फिर पशुओं का दूसरा उपयोग क्यों किया जा रहा है? पशुओं को घर में रखना, खरीदना, बेचना, उनसे काम लेना आदिक जो अन्य प्रकार का उपयोग किया जाता है फिर उसमें दोष मानना चाहिए। सो विवेकी जन यह विचार करें कि पशुओं को घर में रखने या व्यवहार करने में पाप है या यज्ञ के लिए उन्हें प्राणघात करने में पाप है?

(२२०) मांसभक्षण की लोलुपता में मंत्र यज्ञविधान का जाल—शंकाकार कहता है कि मंत्र की प्रधानता होने से हिंसा का दोष न लगेगा। जैसे मंत्रपूर्वक विषभक्षण करने से मरण नहीं होता, इसी प्रकार मंत्र के संस्कारपूर्वक पशुवध किया जाने से पाप नहीं होता। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यह अभिप्राय तो बहुत खोटे परिणाम को सिद्ध करता है, इसमें तो प्रत्यक्ष विरोध है। जैसे मंत्र से संस्कार किया गया विष गौरवहीन प्रत्यक्ष से ही देखा जाता है अथवा रस्सी सँकल आदिक के बंधन बिना किसी जीव या मनुष्यादिक को स्तम्भन कर दिया जाता है, वहाँ स्थित कर देना यह प्रत्यक्ष से देखा जाता है, तो केवल मंत्रबल से यह सब नजर आता है। इसी प्रकार यदि केवल मंत्रों से यज्ञकर्म में पशुओं को डाला जाने वाला देखें तो मंत्र बल की श्रद्धा करना चाहिए अर्थात् जैसे मंत्रबल से उस वस्तु को छुवे बिना ही स्तम्भन आदिक बन जाते हैं ऐसे केवल मंत्र से ही वे पशु यज्ञ में पहुंच जाये तब तो कुछ इस पर विचार करने लगें, पशु को जबरदस्ती ही ढकेल कर जलती हुई अग्नि में लोग पटकते हैं तो मंत्रबल कहाँ रहा? मंत्रबल तो तब कहलाता कि यहाँ मंत्र पढ़ रहे और वहाँ पशु अपने आप अग्नि में गिर रहा हो। नहीं तो केवल तुम्हारा कपट है। मांस खाने के लोलुपी व्यवहार में भी अच्छे माने जाये और माँस भी खाने को मिले, केवल इस लालसा और कपट से यह पशुबलि का ढोंग रचा गया है। जैसे शस्त्रादिक से प्राणियों को मारने वाले खोटे भाव होने से पाप से बंधे जाते हैं, ऐसे ही मंत्रों के द्वारा भी पशुओं को मारने वाले लोग खोटे कर्मों का बंध करते, हिंसा का दोष टाल नहीं सकते। पुण्य और पाप के बंध के जो कारण हों वे पुण्य पाप कर्म का बंध करते ही हैं। शुभभाव होने से पुण्य कर्म का बंध होता है और अशुभ भाव होने से पापकर्म का बंध होता है। सो इस बात को कोई मना नहीं कर सकता। यदि पुण्य पाप बंध के नियत कारणों में फेर कोई कर दे तब तो दंध और मोक्ष की प्रक्रिया ही खत्म हो जायेगी।

(२२१) एकान्तर्दर्शन में यज्ञकर्तृत्व की अनुपपत्ति—अच्छा ये यज्ञ में पशुवध करने को पुण्य मानने वाले यह बताये कि अग्नि हवन आदिक क्रियाओं का करने वाला कौन है अथवा कोई भौतिक वस्तु है या पुरुष है? यदि भौतिक पिण्ड देह अग्नि हवन का कर्ता है तो ये देहादिक तो अचेतन हैं घट आदिक की तरह सो इस शरीर में, इस भौतिक पिण्ड में पुण्य पापरूप क्रिया का अनुभव नहीं होता इसलिए यह तो कर्ता हो ही नहीं सकता। अब रहा पुरुष याने जीव, सो वह अनित्य है या क्षणिक है यह बताओ? याने अग्नि हवन आदिक क्रियाओं का करने वाला यदि जीव है तो वह नित्य है या अनित्य? यदि कहा जाये कि वह अनित्य है, क्षणिक है तो क्षण। भर को आत्मा हुआ, फिर न रहा, मंत्र कौन बोलेगा? उसके अर्थ का कौन स्मरण करेगा? उसका प्रयोग कौन करेगा? वह तो एक क्षण को ही हुआ और नष्ट हो गया, तो ये सारे कार्य हो ही नहीं सकते। मनन बन सकेगी,

न क्रिया हो सकेगी। इस यज्ञ कर्ता जीव को क्षणिक मानने पर कर्तापन नहीं बनता। यदि कहा जाये कि उस यज्ञ हवन आदिक का कर्ता पुरुष नित्य है तो नित्य के तो मायने यह हैं कि हमेशा एकसा ही रहे। उसमें कुछ भी बदल न हो। तो पहले और बाद में समय में जब वह एक समान ही रहा तो उसमें कोई क्रिया हो ही नहीं सकती। तो कर्तृत्व तो दूर से ही हट गया। तो जब कर्तापन बन नहीं सकता तो क्रिया का फल कैसे प्राप्त होगा? और फिर जो यह कहा है पुरुष के बारे में कि दुनिया में जो कुछ दिख रहा है या सत् है, हुआ था, होगा, वह सब यह पुरुष ही है। तो जब एक पुरुष का एकान्त मान लिया गया तो फिर वहाँ यह बध्य है, यह मारने वाला है, यह कोई विवेक ही न बन सकेगा कि कौन क्या कर रहा है? कुछ भी नहीं, क्रिया भी न बन सकेगी।

(२२२) निज-निज स्वरूपास्तित्वमय जीवों का अपनी-अपनी योग्यता से विविध विपरिणमन—पुरुष को अपरिणामी चेतनाशक्ति मात्र मानती है तो फिर दिखने वाला यह नानारूप जो जगत है यह फिर न ठहरेगा, इस कारण पुरुष को सर्वथा एक मानना, नित्य मानना यह वस्तुस्वरूप के विरुद्ध है। अथवा जब एक ही रहा और चेतना शक्तिमात्र रहा तो न कुछ प्रमाण कहलायेगा और न कुछ प्रमाणाभास कहलायेगा, क्योंकि प्रमाण व प्रमाणाभास का भेद बाह्यपदार्थ की प्राप्ति अप्राप्ति पर निर्भर है सो मानते नहीं। तो ऐसे निर्विकल्प जीव तत्त्व की, पुरुषतत्त्व की कल्पना करने पर जब वह निर्विकल्प है ऐसा विकल्प होता तो निर्विकल्पैकान्त कहाँ रहा? यदि निर्विकल्प का विकल्प नहीं तो निर्विकल्प कहाँ रहा, ऐसे ही संकरदोष होना, वचनविरोध होना ये अनेक दोष वहाँ आते हैं। इस कारण जो विषयतृष्णा से व्याकुल पुरुष हैं उनके द्वारा माने गए हिंसादिपोषक वचन प्रमाणभूत नहीं हैं। इस तरह परोपदेशनिमित्तक मिथ्यादर्शन के भेद अनेकों, हजारों, लाखों प्रकार के समझना चाहिए। आत्मा की दृष्टि से तो मिथ्यादर्शन के विकल्प अनगिनते हैं। अनुभाग की दृष्टि से याने फल शक्ति की दृष्टि से वे अनन्त हैं। तो जो दूसरा नैसर्गिक मिथ्यादर्शन है सो भी अनेक प्रकार का है। स्वामी के भेद से एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी तिर्यच म्लेच्छ पुरुष आदिक के भेद से उनके अभिप्रायों के फर्क से अनेक प्रकार के हैं।

(२२३) मिथ्यात्व की पञ्चविधता—यह प्रकरण बंध के हेतु का चल रहा है। कर्मबन्ध के कारण क्या-क्या भाव हैं उनमें सूत्रोक्त प्रथम मिथ्यादर्शन का विवरण चल रहा है। यह मिथ्यादर्शन ५ प्रकार से भी देखा जाता है—(१) एकान्त, (२) विपरीत, (३) संशय, (४) वैनियिक और (५) अज्ञान। एकान्त मिथ्यात्व किसे कहते हैं? किसी भी धर्म या धर्मी का एकान्त विकल्प करना, यह ऐसा ही है और उसके प्रतिपक्षभूत अन्य धर्मों को मना करना यह एकान्तमिथ्यात्व है। जैसे यह सारा जगत एक पुरुष ही है ऐसा एकान्त करना और सर्व सतों का लोप करना यह एकान्तमिथ्यात्व है अथवा जीव को सर्वथा नित्य ही मानना या सर्वथा अनित्य ही मानना आदिक अनेक एकान्त मिथ्यादर्शन होते हैं। विपरीत मिथ्यात्व क्या है? जैसे कोई साधु परिग्रह रखता हो और उसे निर्गन्ध बताना, प्रभु केवलज्ञानी अरहंत को कवलाहार करने वाला बताना, स्त्री की मुक्ति बताना आदिक जो विपरीत कथन हैं, अभिप्राय है वह विपरीत मिथ्यादर्शन है। संशयमिथ्यात्व—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग है या नहीं, ऐसी बुद्धि की द्विविधा करना, ऐसा ही अन्य तत्त्व के बारे में यह ऐसा है या नहीं, इस

प्रकार की द्विविधा बुद्धि में रखना संशयमिथ्यात्व है। वैनियिकमिथ्यात्व—सभी देवताओं का, सभी धर्मों का एक समान विनय करना, उन सबको सही समझना यह वैनियिक मिथ्यात्व है। अज्ञानमिथ्यात्व—वह हितरूप है, यह अहितरूप है इस प्रकार की परीक्षा करने की क्षमता ही न हो, अज्ञान बसा हो यह अज्ञानमिथ्यात्व कहलाता है। इस प्रकार बंध के कारणों में मिथ्यादर्शन के सम्बंध में कुछ वर्णन किया।

(२२४) बन्धहेतुभूत अविरति कषाय योग व प्रमादों का निर्देश—अब अविरति आदिक के सम्बन्ध में कुछ वर्णन करते हैं। अविरति १२ प्रकार की होती है—६ विषय अविरति और ६ काय अविरति। स्पर्शन, रसना, ग्राण, चक्षु, कर्ण तथा मन—इन ६ के विषयभूत पदार्थों में आसक्त रहना, इनसे विरक्त न हो सकना सो अविरति कहलाता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस काय, इनकी हिंसा से विरक्त न होना यह हिंसा अविरति कहलाती है। इस प्रकार अविरति भावना १२ प्रकार की होती है। यह कर्मबंध के हेतुभूत है। कषाय २५ होती हैं, उनमें १६ तो कषाय हैं और ९ ईसत कषाय हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषायें होती हैं और ये प्रत्येक मिथ्यात्व का पोषण करने वाली, संयमासंयम को न होने देने वाली, संयम का घात करने वाली और आत्मा के यथार्थस्वरूप को प्रकट न होने देने वाली ऐसी चार-चार प्रकार की कषायें होती हैं। यों कषाय के १६ भेद हैं—नोकषाय—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, ये ९ भाव होते हैं, योग १५ होते हैं—४ मनोयोग—(१) सत्यमनोयोग, (२) असत्यमनोयोग, (३) उभयमनोयोग, (४) अनुभय मनोयोग, ऐसे ४ प्रकार के मन का आलम्बन कर जो परिस्पंद होता है, आत्मचंचलता होती है वह मनोयोग है। चार वचनयोग—(१) सत्यवचनयोग, (२) असत्यवचनयोग, (३) उभयवचनयोग, (४) अनुभयवचनयोग और ७ काययोग—(१) औदारिक काययोग, (२) औदारिक मिश्र काययोग, ये मनुष्य और तिर्यचों के शरीर परिस्पंदविषयक योग हैं, (३) वैक्रियक काययोग, (४) वैक्रियक मिश्रकाययोग, ये देव और नारकियों के शरीरविषयक योग हैं। (५) एक कार्माण काययोग है। विग्रहगति के जीव के कर्मनिमित्तक योग होता है, (६) एक होता है आहारक काययोग, (७) एक होता है आहारक मिश्र काययोग, जो प्रमत्तविरत मुनि के सम्भव है। ये सब योग कर्मबंध के कारणभूत होते हैं। प्रमाद अनेक प्रकार का होता है। जैसे आठ प्रकार की शुद्धियों में उत्साह न होना, अनादर होना प्रमाद है—भावशुद्धि, कायशुद्धि, विनयशुद्धि, ईर्यापथशुद्धि अर्थात् देख-भालकर चलना भैक्ष्यशुद्धि, शयनासनशुद्धि, प्रतिष्ठापनशुद्धि शुद्धि, याने किसी भी वस्तु को हिंसारहित जगह पर देखभाल कर धरना और वाक्यशुद्धि, इन आठ प्रकार की शुद्धियों में प्रमाद करना और क्षमा, मार्दव आर्जव, शौच, सत्य संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य—इन दसलक्षण धर्मों में उत्साह न होना, अनादर होना, यह प्रमाद कहलाता है। प्रमाद के अनेक भेद होते हैं, फिर भी इनका संक्षेपरूप किया जाये तो प्रमाद १५ प्रकार के होते हैं। ५ इन्द्रिय के विषयों की रुचि होना, क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों के वश रहना, स्त्रीकथा, राजकथा, देशकथा और भोजनकथा इन चार प्रकार की विकथाओं में उलझे रहना, निद्रा एवं स्नेह ऐसे प्रमाद के १५ भेद होते हैं। इन १५ भेदों में एक के साथ एक रखकर बदलकर इनके ८० भेद हो जाते हैं। तो ये प्रमाद के प्रकार कर्मबन्ध के हेतुभूत हैं।

(२२५) गुणस्थानों के अनुसार बन्धहेतुवों का घटन—जहाँ प्रमाद नहीं है और कषाय है वह कषाय इस सूत्र

में विवक्षित है। कषाय तो मिथ्यादर्शन आदिक सबके साथ है पर ऐसी भी कषाय होती है कि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद ये तीनों नहीं हैं और कषाय चल रही है, तो अपी जो यह कहा गया है इसको गुणस्थान के अनुसार लगाया जाता है, इस विधि में सूत्रोक्त क्रम उचित विदित होता है। मिथ्यादृष्टि के ये पांचों ही बंधहेतु पाये जाते हैं। दूसरे गुणस्थान से लेकर चौथे गुणस्थान तक मिथ्यात्व के बिना शेष चार बंधहेतु हैं, ५ वें गुणस्थान में अविरति, प्रमाद कषाय और योग पाये जाते हैं, छठे गुणस्थान में प्रमाद, कषाय और योग हैं, ७ वें गुणस्थान से लेकर १० वें तक कषाय और योग हैं, और ११ वें, १२ वें, १३ वें गुणस्थान में केवल योग ही है। १४ वें गुणस्थान में बंध होता नहीं है।

(२२६) प्रमाद और अविरति में भेद होने से सूत्र में दोनों के ग्रहण की सार्थकता—यहां एक शंकाकार पूछता है कि अविरत और प्रमाद में तो कोई भेद है ही नहीं, फिर अलग-अलग क्यों कहे गए हैं? उत्तर—प्रमाद और अविरति इनमें भेद है। अविरति भाव तो किसी भी व्रत के न होने का है और प्रमाद अविरति अवस्था में भी हो सकता है और व्रत अवस्था में भी हो सकता है। जो विरत हैं, महाब्रती हैं उनके भी १५ प्रमाद सम्भव होते हैं। इस कारण अविरति में और प्रमाद में अन्तर है। अविरतभाव तो प्रथम गुणस्थान से लेकर चतुर्थ गुणस्थान तक होता है। पंचम गुणस्थान में कुछ विरत भाव है, कुछ अविरत भाव है, जिसे संयमासंयम कहते हैं। और विरत याने महाब्रत सकलब्रत छठे गुणस्थान से लेकर १२ वें गुणस्थान तक है और प्रमाद अवस्था पहले गुणस्थान से लेकर छठे गुणस्थान तक होती है। तो छठे गुणस्थान में सकलब्रती मुनि हो गया है फिर भी उसके प्रमाद सम्भव है। प्रमाद १५ बताये गए हैं, ४ विकथा, ४ कषाय, ५ इन्द्रियविषय, १ निद्रा और १ स्नेह। इस प्रकार प्रमाद और अविरति में भेद होने से दोनों को इस सूत्र में ग्रहण किया गया है।

(१२७) कषाय और अविरति में भेद होने से सूत्र में दोनों के ग्रहण की सार्थकता—अब शंकाकार कहता है कि कषाय और अविरति में तो कोई भेद नजर नहीं आता, क्योंकि कषाय में भी हिंसा आदिक परिणाम रहते हैं और अविरति में भी हिंसा आदिक परिणाम रहते हैं। तो जब इन दोनों में कुछ अन्तर नहीं है तब फिर दोनों को ग्रहण क्यों किया? एक को ग्रहण करते? उत्तर—कषाय और अविरति में भी किन्हीं दृष्टियों से भेद है। प्रथम तो कार्यकारण भेद पड़ा हुआ है। कषायें कारणभूत हैं और हिंसा आदिक अविरति कार्यभूत हैं। जैसे कि विदित होता है कि कषायों के करने के कारण अविरति भाव बनता है तो कषाय कारणरूप है और हिंसा आदिक अविरति ५ पाप कार्यरूप हैं, इस कारण इनमें अन्तर है। फिर दूसरी बात यह है कि कषाय तो पहले गुणस्थान से लेकर १० वें गुणस्थान तक होती है। कहीं अधिक, कहीं कम, कहीं और कम, किन्तु अविरतिभाव प्रथम गुणस्थान से लेकर चौथे गुणस्थान तक होता है। अविरतिभाव में विशेष अशुद्धता है? कषायभाव में विशेष अशुद्धता भी है, कम अशुद्धता भी है। इसके कितने ही दर्जे होते हैं। इस कारण कषाय और अविरति में अन्तर है और इसी बजह से सूत्र में दोनों को ग्रहण किया गया है।

(२२८) अनादिकर्मबन्धनबद्ध जीव के कर्मबन्ध की उपपत्ति—अब यहाँ जिज्ञासा होती है कि बंध के हेतुवों को बहुत विस्तारपूर्वक कहा गया है, पर यहाँ एक संदेह यह होता है कि आत्मा तो अमूर्त है, उसके हाथ पैर आदिक होते ही नहीं हैं। तो वे कर्म को ग्रहण करने की शक्ति कैसे रखते हैं? जैसे कोई पुरुष हाथ पैर वाला

है तो कर्मों को ग्रहण करने की शक्ति रखता है, ग्रहण भी करता है पदार्थों को, परंतु आत्मा के तो अंग ही नहीं है फिर किसी वस्तु का ग्रहण करना ही नहीं बन सकता। फिर बंध कैसे हो जाता? समाधान—देखिये कर्म व आत्मा में यह पहले था, यह बाद में आया—यह अवधारण नहीं किया जा सकता, फिर इसमें ग्रहण का मतलब हाथ पैर से ग्रहण करने का सोचना ही नहीं है। ऐसा कोई नहीं कह सकता कि पहले आत्मा ही आत्मा था पीछे कर्म आया या पहले कर्म ही कर्म था पीछे आत्मा आया। तो जब आत्मा और कर्म के बंध के विषय में पहली बात कुछ नहीं है, अनादि से ही बंध संतति है। तो इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा को संसार अवस्था में एकान्ततया अमृत कहना गलत है। आत्मा सर्वथा अमृत नहीं है, तो संसारी आत्मा कर्मबद्ध पिण्ड में अवस्थित होने से कथंचित् मृत बन गया तो कर्मशरीर से सम्बन्ध रखने वाला यह जीव अब कर्मपुद्गल को ग्रहण कर लेता है। जैसे कि तपा हुआ लोहे का गोला चारों ओर से जल को ग्रहण कर लेता है, यही बात सूत्र में कहते हैं।

## सूत्र 8-2

**सकषायत्वाजजीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः॥८-२॥**

(२२९) सूत्र में कथित कषाय शब्द से बन्धविशेष व विपाकविशेष की सूचना—सकषायपना होने से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। यहीं बंध कहलाता है। यहाँ शंकाकार कहता है कि कषाय का तो प्रकरण ही चल रहा है। प्रथमसूत्र में भी कषाय शब्द आया था, फिर यहाँ कषाय का ग्रहण करना पुनरुक्त हो गया अर्थात् कषाय शब्द बोलने की आवश्यकता इस सूत्र में नहीं है। यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ कषाय शब्द देने से कुछ विशेष विपाक का आशय सिद्ध होता है जठराग्नि की तरह। जैसे जठराग्नि की योग्यता के अनुरूप आहार का पचना होता है। जिसमें जैसी जठराग्नि है, याने किसी की पाचन शक्ति उदर की उतनी तीव्र है कि उसमें अनेक कठोर आहार भी पक जाते हैं, किसी की मंद है तो वैसा पाक होता है, ऐसे ही तीव्र, मंद और मध्यम कषाय के अनुसार कर्म की स्थिति और अनुभाग पड़ता है यह एक तथ्य बताने के लिए, यद्यपि बंध के कारणों में कषायों का निर्देश किया जा चुका था तो भी कषाय को यहाँ पुनः ग्रहण किया गया है, जिससे यह सिद्ध होता कि जिसके जैसी कषाय है उसके वैसी ही पुद्गल कर्म की स्थिति और अनुभाग पड़ता है।

(२३०) प्राणधारी जीव के बन्ध की उपपत्ति —इस सूत्र में प्रथम पद है जीवः। इस जीव शब्द से यह अर्थ धनित होता है कि जो आयु सहित हो सो जीव है अर्थात् आयु सहित जीव ही कर्मबंध करता है। आयु से रहित सिद्ध भगवान है, उनके कर्मबंध नहीं होता। यद्यपि १४ वें गुणस्थान में भी आयु है पर उस प्रभु को सिद्ध की तरह ही समझना चाहिए। तो जो संसारी जीव है, दस प्राणकर जीता है, आयु करके सहित है वह जीव कर्मबंध करता है, यह अर्थ होता है जीवः शब्द कहने से। जीव शब्द का अर्थ भी धातु की दृष्टि से प्राणधारी है। जीव प्राणधारणे ऐसा धातु पाठ में बताया है। अर्थात् जो प्राणों को धारण करे सो जीव है। प्राणों में आयु भी प्राण है, अन्य भी प्राण हैं। जिसके आयु है उसके साथ में सम्भव सब प्राण होते ही हैं। केवल एक १४

वां गुणस्थान ऐसा है कि जिसमें केवल आयु है, अन्य प्राण नहीं है, पर वह आगमसिद्ध बात है । इसलिए समझ लेना चाहिए कि १४ वें गुणस्थान में बंध नहीं । पर अन्य सभी संसारी जीवों के बंध चलता है ।